गुप्तवंशीय अभिलेखों का धार्मिक अध्ययन

गुप्तवंशीय अभिलेखों का धार्मिक अध्ययन

सुमन्त गुप्ता

प्रस्तावना

अरुण कुमार सेन

अजय बुक सर्विस
नई दिल्ली-११०००२

जिनका वात्सल्य प्रेरणा-स्रोत है

उन्हीं

पूजनीय

मातृश्री एवं पितृश्री

को

सादर समर्पित

प्रस्तावना

इतिहास के स्वरूप-निर्धारण में अभिलेखों का विशिष्ट योगदान रहा है। तत्कालीन महत्त्वपूर्ण अभिलेखों के आधार पर ही गुप्तकाल की स्वर्णिम महत्ता का दिग्दर्शन हो पाता है।

प्रसंगत: अभिलेखों की चर्चाएँ आधुनिक ग्रन्थों में होती हैं, किन्तु एक समय-विशेष के अधिकांश अभिलेखों का किसी एक दृष्टि से एकत्र परिशीलन नहीं हो पाया था।

श्री सुमन्त गुप्ता ने गुप्त वंश के अभिलेखों का क्रमिक एवं विवेचनापूर्ण अध्ययन कर उस समय की धार्मिक प्रवृत्तियों को रूपायित करने का स्तुत्य प्रयास किया है, जो इतिहास के अध्येताओं एवं गवेषणा में संलग्न विद्वानों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

खैरागढ़ विश्वविद्यालय, खैरागढ़
(मध्यप्रदेश)
दिनांक ६ अक्तूबर, १९८०

अरुण कुमार सेन
उप-कुलपति

आमुख

गुप्त वंश के अभिलेखों का भारतीय इतिहास में क्या महत्त्व है इससे सभी परिचित हैं। इस काल के अभिलेखों का प्रकाशन भी हो चुका है तथा उन पर मुख्यत: ऐतिहासिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से अध्ययन भी किया जा चुका है। किन्तु गुप्तवंश के अभिलेखों का धार्मिक दृष्टिकोण से अभि-विस्तृत अध्ययन नहीं किया गया है। ग्रन्थ के माध्यम से यह सर्वप्रथम प्रयास मैंने किया है। मेरा यह भरसक प्रयत्न रहा है कि गुप्त अभिलेखों का विश्लेषण धार्मिक दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत किया जा सके।

ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में विषय की विस्तृत भूमिका प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। प्राचीन भारतीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के प्रमुख स्रोतों में पुरातत्त्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसके अंतर्गत अभिलेख, मुद्राओं, प्राचीन स्मारक आदि की गणना होती है। इन ऐतिहासिक उपकरणों, में अभिलेख सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अन्य अवशेषों से क्रमिक इतिहास का ज्ञान नहीं होता। अभिलेख, साहित्यों में वर्णित तथ्यों की प्रामाणिकता प्रस्तुत करते हैं एवं कहीं-कहीं अज्ञात इतिहास व संस्कृति का भी अध्ययन करते हैं। जहाँ साहित्यिक प्रमाण अस्पष्ट होता है वहाँ अभिलेखों की सहायता से ही इतिहास प्रस्तुत किया जाता है। प्रस्तुत अध्याय में अभिलेखों के महत्त्व की चर्चा की गई है। गुप्त नरेशों के अभिलेखों में कुछ ऐसी विशेषतायें प्राप्त हुई हैं जिनसे धार्मिक अध्ययन को पूर्णता प्राप्त हो सकती है। अतः उनका स्पर्श करना भी मैंने आवश्यक समझा। इन अभिलेखों में तत्कालीन भाषा व लिपि, वंश का उत्थान-पतन, राजधानी नगर आदि के भी संकेत प्राप्त होते हैं। ये अभिलेख सामान्यतः धार्मिक पर्व, दान के अवसर, विजय यात्रा के समय उत्कीर्ण कराये जाते थे। इन अभिलेखों में वर्णित तथ्यों की प्रामाणिकता के लिये वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता का

अनुभव कर उस दृष्टि से अध्ययन करके भी तथ्यों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

गुप्तों के अभिलेख निजी एवं राजकीय दोनों प्रकार के प्राप्त हुए हैं, किन्तु उन्हें मैंने उनके उत्कीर्ण वस्तु के आधार पर वर्गीकृत किया है, साथ ही अभिलेखों में वर्णित समाज, राजनीति, दर्शन, शिक्षा, विद्या, कला, आर्थिक स्थिति को तथा अभिलेखों की अपूर्णता तथा दोष को भी मैंने प्रथम अध्याय में प्रस्तुत किया है ।

गुप्त वंश की स्थापना के पूर्व तथा कुषाणों के पतन के बाद भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था । तीसरी शताब्दी तक कुषाण सत्ता का अन्त हो गया था जिसके बाद ऐसा कोई भी शासक न हो सका जो इस विस्तृत भू-भाग पर शासन करता हो । यही कारण है कि गुप्तों के उदय के पूर्व का एवं कुषाणों के पतन के बाद का इतिहास भारतीय इतिहास में अंधकार युग के नाम से जाना जाता है । इस युग की समाप्ति गुप्तों के उदय से होती है जिसमें सभी उत्तर भारत के राजतंत्रात्मक एवं गणतंत्रात्मक राज्य समाहित हो गये । इसी काल की राजनीतिक स्थिति तथा गुप्तों के उसमें योगदान की चर्चा **द्वितीय अध्याय** में की गई है । वंश के प्रारंभिक व संस्थापक नरेश श्रीगुप्त की चर्चा है, जिसके नाम से ही इस वंश का नाम गुप्तवंश पड़ा । इसके बाद घटोत्कच व इस वंश के साम्राज्यवादी नरेशों में समुद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि का भी संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है ।

प्राचीन भारतीय जीवन में धर्म की व्यापकता पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि धर्म भारतीय जीवन की धुरी है । यही कारण है कि प्राचीन भारतीय समस्त क्रिया कलाप धर्म से संरक्षित एवं नियंत्रित रहा । भारतीय संस्कृति में धर्म को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान मिलने के बाद भी उसकी निश्चित व सर्वमान्य परिभाषा प्राप्त नहीं होती । संसार के सभी धर्मों ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर उसे महत् अदृश्य शक्ति माना है । सभी धर्म ईश्वर को सर्वव्यापी और अन्तर्यामी मानते हैं । तृतीय अध्याय में धर्म के स्वरूप की व्याख्या करते हुए इन्हीं बातों को प्रस्तुत किया गया है । यदि रूढिवादी दृष्टि से हट कर देखा जाय तो ज्ञात होता है कि हिन्दू धर्म ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना नितांत आवश्यक नहीं मानता । हिन्दू धर्म इस तथ्य पर अधिक ध्यान देता है कि हमारा जीवन सदा विचारमय हो । इस

प्रकार भारतीय धर्म के लिए ईश्वर कोई आवश्यक एवं अनिवार्य वस्तु नहीं हैं। ईश्वर के बिना भी भारतीय धर्म रह सकता है। भारतीय धर्म व दर्शन के घनिष्ठ संबंध के अभाव को भी उक्त अध्याय में दर्शाया गया है।

किसी भी काल की संस्कृति का अंग अपने विकास के लिये अपने पूर्व की संस्कृति का ऋणी होता है यह कहना अनुचित न होगा। अतः चतुर्थ अध्याय में गुप्त नरेशों के पूर्व के धार्मिक इतिहास को प्रस्तुत किया गया है। सिंधु घाटी की सभ्यता में परम-पुरुष एवं परमा नारी के अतिरिक्त पशु-पूजा, नागपूजा एवं जलपूजा भी होती थी। वैदिक काल के आर्यों ने यज्ञीय कर्मकाण्ड के सम्पादन को धर्म का प्रमुख अंग माना है। महाकाव्य काल में प्रजापति, विष्णु व रुद्र की महत्ता बढ़ी। महाजनपदकाल धार्मिक क्रान्ति का काल था। इस समय जैन एवं बौद्ध धर्म का उदय तथा विकास हुआ। सातवाहनों के एवं उनके पूर्व शुंगों के काल में ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार हुआ और उसके बाद विदेशी शक्तियों का उदय हुआ। कालांतर में ये विदेशी शक्तियां भी भारतीय रंग में रंग कर नया स्वरूप ग्रहण कर सकीं। गुप्त वंश के पूर्व की इस भारतीय धार्मिक अंतर्धारा का विहंगावलोकन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

गुप्त नरेश वैष्णव धर्मावलंबी थे अतः पंचम अध्याय में वैष्णव धर्म की विस्तृत चर्चा की गई है। अभिलेख सामग्री का पूर्ववर्ती लेखकों ने इतना अधिक प्रयोग किया है कि उसमें मेरे लिए अपने ढंग से कहने के लिये कम ही रह गया था तथापि मैंने उसे अपनी दृष्टि से लिखने की चेष्टा की है। इस अध्याय में वैष्णव धर्म का उदभव एवं विकास गुप्त काल के पूर्व किस तरह हुआ एवं गुप्त काल के आते तक किस रूप में था और वैष्णव धर्मावि-लंबी गुप्त नरेशों ने किन कारणों से वैष्णव धर्म को राज्याश्रय प्रदान किया इन्हीं बातों की चर्चा के साथ ही साथ अभिलेखों में वर्णित उसके विभिन्न संप्रदाय का भी वर्णन किया है। वैष्णव धर्म की प्रतिमाओं और मंदिरों का निर्माण, गुप्त नरेशों के अभिलेखों में वर्णित विष्णु के विभिन्न अवतारों का समीक्षात्मक अध्ययन भी मैंने प्रस्तुत किया है। गुप्त काल के अभिलेखों के आधार पर ही उस समय प्रचलित पूजा आराधना पर भी यथासंभव प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। अध्याय के अन्त में वैष्णव धर्म की गुप्त काल में उपयोगिता, प्रभाव, राजनीति, कला, साहित्य, अर्थ आदि पर भी चर्चा की गई है।

छठवें अध्याय में गुप्त काल में प्रचलित अन्य धर्मों में शैव, सौर, शाक्त, गणेश, कार्त्तिकेय, जैन व बौद्ध धर्मों पर अभिलेखों तथा प्राप्त तत्कालीन मूर्तियों के आधार पर चर्चा की गई है। सभी गुप्त वैष्णवधर्मावलंबी थे और अपने अभिलेखों में वे परम भागवत कहे गये हैं। फिर भी उनकी धार्मिक सहिष्णुता दर्शनीय है। इस अध्याय में उनकी सहिष्णुता पर भी चर्चा की गई है। सप्तम अध्याय में उपसंहार में गुप्त नरेशों के धार्मिक दृष्टिकोण पर चर्चा करते हुये अपने कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। ग्रन्थ के अन्त में गुप्त शासकों के अभिलेखों का मूल पाठ दिया है जिससे पाठकों को विषय का गहन अध्ययन करने में विशेष सुविधा प्राप्त हो सके।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने अभिलेखों का मूल पाठ सर्वश्री फ्लीट महोदय, डॉ० डी० सी० सरकार, डॉ० राजबली पाण्डेय, डॉ० वासुदेव उपाध्याय आदि विद्वानों के ग्रन्थों से लिया है। मैं इन सभी अधिकारी वर्गों का हृदय से आभारी हूँ। परम आदरणीय उपकुलपति श्री अरुण कुमार सेन जी ने अधिक व्यस्तता के बाद भी प्रस्तावना लिख कर इस ग्रन्थ को अनुमोदित किया उसके लिये मैं उनका हृदय से ऋणी हूँ। ग्रन्थ के लेखन में मेरे अन्तरस्रोत के रूप में डॉ० सभापति सिंह का दिशा निर्देश प्रवाहित होता रहा है। हिन्दी विभाग के श्रद्धेय डॉ० रमाकांत जी श्रीवास्तव, शोध विभाग के आचार्य रमाशंकर मिश्र एवं आचार्य के० पी० त्रिपाठी, श्री डी० के घोष (कुल सचिव) एवं ग्रन्थपाल श्रीसुन्दरेशन से भी मुझे समय-समय पर निर्देश एवं सहयोग मिलते रहे हैं। अतः मैं इन सभी का हृदय से आभार मानता हूँ। ग्रन्थ की मूल प्रतियाँ तैयार करने में मेरे सहयोगी श्री चन्द्रशेखर बख्शी, श्री दिलीप नामदेव एवं धर्मपत्नी रागिनी ने बड़ी तत्परता दिखाई है, उसके लिये मैं इनको धन्यवाद देता हूँ। मैं प्रकाशक श्री नन्दलाल वर्मा का भी आभारी हूं, जिनके श्रम व मेहनत से यह ग्रन्थ पाठकों तक पहुँचा। अन्त में मैं सभी मित्रों एवं शुभचिन्तकों का आभारी हूँ, जिनकी शुभकामनायें एवं सहयोग मुझे प्राप्त होते रहे हैं।

दन्तेश्वरी महाविद्यालय,
जगदलपुर, मध्यप्रदेश

सुमन्त गुप्ता

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

भूमिका

१. अभिलेखों का महत्त्व

प्राचीन भारतीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के प्रमुख स्रोतों में पुरातत्त्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुरातत्त्व के अन्तर्गत अभिलेख, मुद्राएं, प्राचीन स्मारक एवं उत्खनन से प्राप्त अन्य वस्तुओं की गणना होती है। इन सब में अभिलेख सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योंकि मुद्राओं में मात्र राजा का नाम और उस काल की आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है। अन्य जानकारी भी मुद्राओं से होती है परन्तु इन मुद्राओं से किसी वंश का क्रमिक इतिहास (तिथिबद्ध) नहीं रचा जा सकता जब कि अभिलेखों से क्रमिक इतिहास और और संस्कृति की रचना कर सकते हैं। गुप्त वंश का भी इतिहास इन्हीं अभिलेखों के आधार पर रचा गया है। अभिलेखों से इतिहास और संस्कृति पर विकसित और सर्वांगीण प्रकाश पड़ता है। अतः अभिलेख इस क्षेत्र में अधिक उपयोगी हैं। अभिलेख प्राचीन साहित्यों में वर्णित तथ्यों की प्रामाणिकता प्रस्तुत करते हैं और कहीं कहीं अज्ञात इतिहास अथवा उससे संबंधित संस्कृति का भी अध्ययन कराते हैं। ये संस्कृति सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक, शैक्षणिक तथा आर्थिक तत्त्वों से संबंधित होती है। जहां साहित्य दुर्बोध होता है वहां अभिलेखों की सहायता लेकर इतिहास तैयार किया जाता है। नए तथ्यों का उद्घाटन भी अभिलेख करते हैं और इतिहास की रचना भी करते हैं। इस संदर्भ में समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति[1] उल्लेखनीय है। इस प्रशस्ति की उपलब्धि के अभाव में समुद्र गुप्त जैसे गुप्तवंशीय अद्वितीय प्रतापी वीर राजा के बारे में जानकारी प्राप्त करने से हम वंचित रह जाते। ध्यातव्य है कि इस नरेश के संबंध में अन्यत्र जानकारी प्राप्त नहीं होती। नए तथ्यों के उद्घाटन के साथ-साथ साहित्यों में

---

१. का० इ० इ० भाग ३, पृष्ठ ६-१०

वर्णित तथ्यों की पुष्टि भी इन अभिलेखों से होती है । समुद्रगुप्त के ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त के संबंध में हमें साहित्यों में चर्चा मिलती है । इन साहित्यों में चर्चा होने के कारण जनश्रुतियों में भी रामगुप्त की पर्याप्त चर्चा फैल चुकी है । साहित्यिक साक्ष्य विशाखदत्त कृत देवीचन्द्रगुप्तम्[1] नामक संस्कृत नाटक में इसका उल्लेख है कि रामगुप्त नामक व्यक्ति समुद्रगुप्त का पुत्र था । इसके अतिरिक्त बाण ने हर्षचरित[2] में भी रामगुप्त का उल्लेख करते हुए कहा है कि, 'अरिपुर में शक नरेश नारीवेशधारी चंद्रगुप्त द्वारा उस समय मारा गया जब वह परस्त्री का आलिंगन कर रहा था ।' अबुल हसन ने इसका उल्लेख अपने 'मुजमल उत तवारिख' में अधिक विस्तार से किया है कि 'शक नरेश की हत्या से चन्द्रगुप्त की प्रतिष्ठा जनता के हृदय में घर कर गई थी और वह लोगों में आदर का पात्र बन गया था।' ।[3]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि साहित्य तथा विभिन्न विवरणों में उल्लिखित रामगुप्त नामक कोई राजा था जिसका ध्रुवस्वामिनी से विवाह हुआ था । परन्तु भाई रामगुप्त की हत्या कर चंद्रगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी से विवाह किया । साहित्यों में वर्णित रामगुप्त की ऐतिहासिकता को कतिपय विद्वान् स्वीकार नहीं करते । वे उसे एक काल्पनिक व्यक्ति मानते हैं । परन्तु एरण से प्राप्त एक मुद्रा अभिलेख[4] से रामगुप्त नामक राजा की ऐतिहासिकता की पुष्टि प्रोफेसर के० डी० बाजपेयी ने की है। इसी भांति विदिशा नगर के समीप से प्राप्त तीन जैन प्रतिमाओं से भी उसकी पुष्टि होती है । इनमें से प्रथम मूर्ति की चरण पीठिका पर[5] एक अभिलेख उत्कीर्ण है । रामगुप्त की ऐतिहासिकता सिद्ध हो जाने के कारण उसकी

---

१. देवीचन्द्रगुप्तम् (नाट्यदर्पण में उद्धृत)
२. निर्णय सागर प्रेस सं० पृष्ठ २००, कावेल थामसकृत अनु० पृष्ठ १९४
३. हिस्ट्री आफ इण्डिया—इलियट, पृष्ठ ११०
४. के० डी० बाजपेयी (जरनल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इण्डिया वर्ष १९६१)
५. उदयनारायण राय पृष्ठ २३८ (गुप्त साम्राज्य)
भगवतोऽर्हतः चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेयं कारिता महाराजाधिराजश्रीराम-गुप्तेन-उपदेशात् पाणियात्रिक ··

कायरता तथा चंद्रगुप्त की वीरता को देखते हुए उसकी कहानी को भी सत्य मानना पड़ेगा। इस प्रकार रामगुप्त की ऐतिहासिकता से संबंधित साहित्य जहां दुर्बोध रहे उसकी पुष्टि तथा स्पष्टीकरण अभिलेख से हो जाता है। इसी बात की चर्चा अमोघवर्ष के संजन ताम्रपत्रलेख (शक संवत् ७९५) में भी है कि कलियुग में गुप्तवंशीय राजा ने अपने भाई को मारकर उसका राज्य तथा उसकी पत्नी प्राप्त की थी[1] तथा गोविंद चतुर्थ की प्रशंसा में भी रामगुप्त वाली घटना का उल्लेख उसके खम्भात ताम्रलेख[2] (शक संवत् ८५२) एवं सांगली ताम्रलेख[3] (शक संवत् ८५५) में किया गया है। उसमें उल्लिखित साहसांक की पहचान भली प्रकार चंद्रगुप्त द्वितीय से की जा सकती है। इस प्रकार साहित्यिक ग्रंथो में उल्लिखित तथ्यों की पुष्टि अभिलेखों से होती है।

अभिलेखों के अध्ययन से भाषा का भी ज्ञान होता है कि उस समय की भाषा क्या थी। साहित्य समाज का दर्पण होता है और उसके लिये आवश्यक है कि जिस काल के जिस समाज की हम संस्कृति जानना चाहें उस काल के उस समाज की भाषा भी हम जानें क्योंकि भाषा और साहित्य-का अभिन्न संयोग है। विद्वानों की यह धारणा है कि गुप्तकाल में संस्कृत भाषा का भारत में बोल बाला था। धर्म संबंधी नवचेतना के साथ ही साहित्य में भी पुनर्जागरण हुआ और पालि तथा प्राकृत का स्थान संस्कृत ने ले लिया।[4] विदेशी तथा देशी विद्वानों ने संस्कृत साहित्य को उन्नत करने के लिये इस काल में काफी प्रशंसनीय कार्य किये। परन्तु डा० उपाध्याय महोदय यहां इस मत से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि, "गुप्त-काल में संस्कृत का पुनरुज्जीवन नहीं हुआ प्रत्युत प्राचीन काल से अविच्छिन्न रूप से चले आने वाली साहित्य की अनुकूल परिस्थितियों में तथा शांतिमय वातावरण में एक रमणीय विकास मात्र हुआ।" इस काल में संस्कृत भाषा का खूब प्रचार हुआ। ब्राह्मणों की धार्मिक भाषा होने के कारण देव वाणी से जो बौद्ध तथा जैन मतावलंबी पृथक् होते जाते थे उन्होंने भी पालि तथा

---

१. ए० इ० १७ पृ० २४८
२. ए० इ० ७ पृ० २६
३. इ० ए० १२ पृ० २४९
४. गुप्त साम्राज्य—परमेश्वरी लाल गुप्त पृ० ५०७

अर्धमागधी के मोह को छोड़ कर संस्कृत से स्नेह बढ़ाया एवं संस्कृत में धर्म व दर्शन ग्रन्थों की रचनाएं की"।[1] इसीलिये सभी गुप्तों के अभिलेख संस्कृत में लिखे गये हैं, एक भी अभिलेख प्राकृत या पालि में नहीं है परन्तु इसमें कुछ पालि और प्राकृत भाषा का प्रभाव अवश्य है। मथुरा से प्राप्त चंद्रगुप्त द्वितीय का एक प्रस्तर अभिलेख प्राकृत भाषा[2] से प्रभावित संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण किया गया है। इन प्राप्त अभिलेखों के सम्यक् अध्ययन के लिये संस्कृत भाषा का ज्ञान अनिवार्य है। अभिलेखों के माध्यम से हम तत्कालीन भाषाओं का परिचय प्राप्त करते हैं और उस काल की संस्कृति व भाषा से आत्मानुशीलन करने का प्रयास करते हैं।

लिपि और भाषा के आधार पर ही अभिलेख के उत्कीर्ण पत्थर की कला को हम जानते हैं कि यह किस काल का है। यदि हमें उस अभिलेख की भाषा का ज्ञान नहीं होता तो हम कैसे कहते कि प्रयाग प्रशस्ति[3] जोकि इलाहाबाद में प्राप्त हुई है अशोक के काल में बनी और उससे पहले अशोक के अभिलेख खुदे और वह अशोक के काल में बन कर गुप्त काल में भी समुद्रगुप्त की प्रशस्ति का स्थान चुने गये और उससे समुद्रगुप्त की समस्त दिग्विजय आदि चर्चायें लिखी गई हैं। क्यों नहीं उसे एक ही काल का मान लेते। इस प्रकार यह एक अभिलेख का पत्थर दो शासकों के काल में सुरक्षित रहा और अभिलेख उत्कीर्ण करने का आकर्षक बना।

अभिलेखों के आधार पर ही हम अनेक प्रतिमाओं को पहचानते हैं कि यह किसकी प्रतिमा है। कभी-कभी मूर्ति को देखकर उसके खण्डित अवस्था में प्राप्त होने पर उसको पहचाना जा सके ऐसे चिह्न प्राप्त नहीं होते। ऐसी स्थिति में अभिलेख जोकि उसके आधार पर उत्कीर्ण होता है ज्ञात करा देता है कि यह किसकी प्रतिमा है। अभिलेख की लिपि की शैली से भी उसे हम उस काल विशेष में रखते हैं। कई अभिलेख तिथि रहित एवं शासक के नाम रहित भी प्राप्त हुए हैं। परन्तु हम उनकी लिपि के आधार पर किसी काल विशेष में उन्हें रख सकते हैं। इस कोटि के प्राप्त अभिलेखों में तुपाभ का शिलालेख, देओरिया प्रतिमालेख, कसिया प्रतिमालेख, सांची

---

१. गुप्त साम्राज्य का इतिहास—डा० उपाध्याय पृ० ७७ भाग २

२. हिस्टोरिकल एण्ड लिटरेरी इंसक्रिप्शंस—रा० ब० पांडे पृ० ७८

३. का० इ० इ० भाग ३, पृ० ४

का प्रतिमालेख एवं बोधगया का प्रतिमालेख[१] आदि को लिपिशास्त्रियों ने अध्ययन किया और बताया कि ये अभिलेख गुप्तकाल के हैं।

अभिलेख से हमें राजवंशों के उत्थान पतन का भी ज्ञान होता है कि यह वंश किस राजा के काल में उत्थान की ओर अग्रसर था और किस शासक के काल में पतन की ओर। गुप्तकालीन अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि समुद्रगुप्त के काल में गुप्तों का शासन बहुत बड़ा था और यह वंश श्रीगुप्त के काल से काफी उत्थान की ओर अग्रसर था। प्रयाग प्रशस्ति[२] के सीमा निर्देश से इसका अनुमान किया जा सकता है।

अभिलेखों का परिशीलन तत्संबंधी राजाओं की वंश-परंपरा का भी ज्ञान कराता है। जिस शासक के काल में अभिलेख उत्कीर्ण होता था उसके पूरे वंश का उल्लेख अभिलेख में कर दिया जाता था। गुप्तों के अभिलेख में यह परंपरा विशेष रूप से अपनाई गई और यह चरम सीमा पर थी। समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति[३] और स्कंदगुप्त के भीतरी अभिलेख[४] में पूरी वंशावली दी गई है। इसी प्रकार गुप्तकालीन वाकाटक राजा विंध्य शक्ति के ताम्रपत्र में भी उसके पितामह प्रवरसेन तथा पिता सर्वसेन का नाम आया है। इसमें रुद्रसेन, पृथ्वीसेन, रुद्रसेन द्वितीय आदि के नाम है। इसमें हमें वाकाटक वंशवृक्ष का ज्ञान होता है जो चम्पक ताम्रपत्र[५] में है।

अभिलेखों में हमें राजधानी व नगर की भी चर्चा प्राप्त होती है। समुद्रगुप्त के विजय प्रसंग में प्रयाग प्रशस्ति में[६] कोशल, पिष्ठपुर, कांची प्रभृति नगरों का नाम तथा दक्षिण भारत के विजय प्रसंग में समतट, पुष्पाक कामरूप, नेपाल आदि प्रदेशों के नाम हैं। ये सीमान्त राज्य थे। इसी प्रकार चंद्रगुप्त द्वितीय के विजित प्रांतों में काकनाद (सांची) कुमारगुप्त प्रथम के

---

१. का० इ० इ० भाग३, पृ० २६६, २७१, २७२, २७६, २८४
२. वही पृ० ७ ५
३. वही पृ० ८
४. वही पृ० ५३
५. वही पृ० २६७ ६८
६. वही पृ० ७-८

मंदसोर अभिलेख में लाट व दसपुर नामक दो प्रधान व्यापारिक नगरों की चर्चा है ।[1]

अभिलेखों के अध्ययन के आधार पर अध्येय अभिलेख की तिथि का भी ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि उससे उल्लिखित अन्य शासकों या व्यक्तियों के नाम से हम उस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। इस संदर्भ में उदयगिरि[2] की गुफा से प्राप्त एक अभिलेख उल्लेखनीय है जिसमें सनकानिक नामक सामंत महाराज ने लिखा है कि, "चंद्रगुप्त द्वितीय के चरणों का ध्यान करते है"। इसमें तिथि भी उल्लिखित है। यदि इसमें तिथि का अंकन न भी होता तो भी हम चंद्रगुप्त के नाम के आधार पर इस सनकानिक द्वारा उत्कीर्ण अभिलेख की तिथि ज्ञात कर सकते थे ।

इसके अतिरिक्त अभिलेखों के और भी गौण महत्व हैं जिसकी चर्चा आगे के अध्याय में प्रसंग वश की जायेगी। उपरोक्त बातों को देखते हुए प्राचीन भारतीय इतिहास व संस्कृति के अध्ययन में अभिलेखों का महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसके द्वारा हम क्रमिक इतिहास की रचना कर सकते हैं।

२. अभिलेखों के उत्कीर्ण करने के अवसर और स्थान

प्राचीन काल में राज्याश्रित कवियों को राजाओं की प्रशंसा अथवा किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख करने के लिये लेखों के आधार की आवश्यकता पड़ती थी। इस समय लोग लेखन कला से अपरिचित थे। यदि लेखन कला से परिचित थे भी तो लेखन कला की सामग्रियों का सर्वथा अभाव था। अध्ययन-अध्यापन श्रुति श्रवण परंपरा से चलती थी। इसीलिये लिखने की कोई विशेप आवश्यकता नही थी। आवश्यकता का अनुभव होने पर जब लोग लिखना प्रारंभ किये तो वे सामग्री ऐसी रही कि प्रकृति के सामान्य प्रभाव से भी नष्ट हो सकती थी। उनके नष्ट होते ही लेख के विपय भी विनष्ट हो जाते थे। इसीलिये लेख के विपय को अमिट बनाने हेतु ऐसी सामग्रियों का पता लगाना आवश्यक हो गया जो क्षण भंगुर न हों। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। शीघ्र ही उन्हें यह सूझा कि यदि प्रस्तर खण्ड, धातु आदि पर लिखें तो वे भोजपत्रों, ताड़पत्रों, वस्त्रों, कागजों की अपेक्षा अधिक

---

१. का० इ० इ० भाग ३, पृ० ८१-८२

२. वही पृ० २५

दिनों ही नहीं अपितु युगों युगों तक रह सकते हैं। गुप्त काल तक आते आते लोगों की यह मान्यता और भी पुष्ट हो गई। यही कारण है कि गुप्त काल के अभिलेख उसके पहले के कालों की अपेक्षा काफी सुधरे हुए ढंग मे प्राप्त होते हैं। वे पुस्तकों अथवा विनाश शील वस्तुओं पर लिखित सामग्रियों की तरह सरलता से न तो नष्ट हो सकते और न उन्हें सहज विकृत किया जा सकता है। फिर भी वे सदैव सदवस्था में रहें ऐसी बात नहीं, कभी कभी वे खण्डित भी हो जाते हैं। इन सभी मे प्रस्तर खण्ड के सरलता से उपलब्ध होने के कारण उसे स्थायी मान कर अभिलेखों के लिये उसे ही विशेष स्थान मिला है। अभिलेखों के आधार रूप में प्रधानतया शिला खण्ड, स्तम्भ, प्रतिमा, स्तूप, ताम्रपत्र, सिक्के, मोहरें, वेदिका, आयाग पट्ट आदि का उपयोग हुआ है। गुप्तकालीन अभिलेखों के संदर्भ में इन्हीं आधारों व पत्रों को पाते हैं जिनमें प्रयाग प्रशस्ति[1] लौहधातु स्तम्भ मेहरावली[2], इन्दौर ताम्रपत्र[3], मथुरा प्रतिमा लेख,[4] कहाम स्तम्भलेख,[5] गुहा लेख उदयगिरि[6] उल्लेखनीय है।

गुप्तवंशीय शासकों के सर्वप्रथम अभिलेख समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति है जिसमें उसके वंशों का भी नाम उल्लिखित है। यह अभिलेख प्रस्तर द्वारा निर्मित है और इसी की परंपरा में कुमारगुप्त एवं स्कंदगुप्त ने भी प्रस्तर में अभिलेख उत्कीर्ण कराये हैं। प्रस्तर के अतिरिक्त चंद्रगुप्त द्वितीय ने लौह स्तम्भ का भी प्रयोग अभिलेख के लिये किया है तथा स्कंदगुप्त ने इन्दौर के एक अभिलेख में ताम्रपत्र का प्रयोग किया है। मूर्तियों में गुप्त शासकों के प्रतिमा लेख भी प्राप्त हुए हैं जिनमें मानकुंवर की बुद्ध प्रतिमा,[7] द्वितीय कुमारगुप्त की तथा आदित्यसेन की बुद्ध तथा सूर्य मूर्तियों की आधारशिला पर खुदे लेख मिले हैं। इसके अतिरिक्त मध्यप्रदेश की

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० १
२. वही पृ० १३६
३. वही पृ० ६८
४. वही पृ० २७३
५. वही पृ० ६५
६. वही पृ० २५८
७. वही पृ० ४५

मंदसोर अभिलेख में लाट व दसपुर नामक दो प्रधान व्यापारिक नगरों की चर्चा है।[१]

अभिलेखों के अध्ययन के आधार पर अध्येय अभिलेख की तिथि का भी ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि उससे उल्लिखित अन्य शासकों या व्यक्तियों के नाम से हम उस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। इस संदर्भ में उदयगिरि[२] की गुफा से प्राप्त एक अभिलेख उल्लेखनीय है जिसमें सनकानिक नामक सामंत महाराज ने लिखा है कि, "चंद्रगुप्त द्वितीय के चरणों का ध्यान करते हैं"। इसमें तिथि भी उल्लिखित है। यदि इसमें तिथि का अंकन न भी होता तो भी हम चंद्रगुप्त के नाम के आधार पर इस सनकानिक द्वारा उत्कीर्ण अभिलेख की तिथि ज्ञात कर सकते थे।

इसके अतिरिक्त अभिलेखों के और भी गौण महत्व हैं जिसकी चर्चा आगे के अध्याय में प्रसंग वश की जायेगी। उपरोक्त बातों को देखते हुए प्राचीन भारतीय इतिहास व संस्कृति के अध्ययन में अभिलेखों का महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसके द्वारा हम क्रमिक इतिहास की रचना कर सकते हैं।

२. अभिलेखों के उत्कीर्ण करने के अवसर और स्थान

प्राचीन काल में राज्याश्रित कवियों को राजाओं की प्रशंसा अथवा किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख करने के लिये लेखों के आधार की आवश्यकता पड़ती थी। इस समय लोग लेखन कला से अपरिचित थे। यदि लेखन कला से परिचित थे भी तो लेखन कला की सामग्रियों का सर्वथा अभाव था। अध्ययन-अध्यापन श्रुति श्रवण परंपरा से चलती थी। इसीलिये लिखने की कोई विशेष आवश्यकता नही थी। आवश्यकता का अनुभव होने पर जब लोग लिखना प्रारंभ किये तो वे सामग्री ऐसी रही कि प्रकृति के सामान्य प्रभाव से भी नष्ट हो सकती थी। उनके नष्ट होते ही लेख के विषय भी विनष्ट हो जाते थे। इसीलिये लेख के विषय को अमिट बनाने हेतु ऐसी सामग्रियों का पता लगाना आवश्यक हो गया जो क्षण भंगुर न हों। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। शीघ्र ही उन्हें यह सूझा कि यदि प्रस्तर खण्ड, धातु आदि पर लिखें तो वे भोजपत्रों, ताड़पत्रों, वस्त्रों, कागजों की अपेक्षा अधिक

---

१. का० इ० इ० भाग ३, पृ० ८१-८२

२. वही पृ० २५

दिनों ही नहीं अपितु युगों युगों तक रह सकते हैं। गुप्त काल तक आते आते लोगों की यह मान्यता और भी पुष्ट हो गई। यही कारण है कि गुप्त काल के अभिलेख उसके पहले के कालों की अपेक्षा काफी सुधरे हुए ढंग से प्राप्त होते हैं। वे पुस्तकों अथवा विनाश शील वस्तुओं पर लिखित सामग्रियों की तरह सरलता से न तो नष्ट हो सकते और न उन्हें सहज विकृत किया जा सकता है। फिर भी वे सदैव सदवस्था में रहें ऐसी बात नहीं, कभी कभी वे खण्डित भी हो जाते हैं। इन सभी में प्रस्तर खण्ड के सरलता से उपलब्ध होने के कारण उसे स्थायी मान कर अभिलेखों के लिये उसे ही विशेष स्थान मिला है। अभिलेखों के आधार रूप में प्रधानतया शिला खण्ड, स्तम्भ, प्रतिमा, स्तूप, ताम्रपत्र, सिक्के, मोहरें, वेदिका, आयाग पट्ट आदि का उपयोग हुआ है। गुप्तकालीन अभिलेखों के संदर्भ में इन्हीं आधारों व पत्रों को पाते हैं जिनमें प्रयाग प्रशस्ति[1] लौहधातु स्तम्भ मेहरावली[2], इन्दौर ताम्रपत्र[3], मथुरा प्रतिमा लेख,[4] कहाम स्तम्भलेख,[5] गुहा लेख उदयगिरि[6] उल्लेखनीय है।

गुप्तवंशीय शासकों के सर्वप्रथम अभिलेख समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति है जिसमें उसके वंशों का भी नाम उल्लिखित है। यह अभिलेख प्रस्तर द्वारा निर्मित है और इसी की परंपरा में कुमारगुप्त एवं स्कंदगुप्त ने भी प्रस्तर में अभिलेख उत्कीर्ण कराये हैं। प्रस्तर के अतिरिक्त चंद्रगुप्त द्वितीय ने लौह स्तम्भ का भी प्रयोग अभिलेख के लिये किया है तथा स्कंदगुप्त ने इन्दौर के एक अभिलेख में ताम्रपत्र का प्रयोग किया है। मूर्तियों में गुप्त शासकों के प्रतिमा लेख भी प्राप्त हुए हैं जिनमें मानकुंवर की बुद्ध प्रतिमा,[7] द्वितीय कुमारगुप्त की तथा आदित्यसेन की बुद्ध तथा सूर्य मूर्तियों की आधारशिला पर खुदे लेख मिले हैं। इसके अतिरिक्त मध्यप्रदेश की

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० १
२. वही पृ० १३९
३. वही पृ० ६८
४. वही पृ० २७३
५. वही पृ० ६५
६. वही पृ० २५८
७. वही पृ० ४५

मंदसौर अभिलेख में लाट व दसपुर नामक दो प्रधान व्यापारिक नगरों की चर्चा है।[1]

अभिलेखों के अध्ययन के आधार पर अध्येय अभिलेख की तिथि का भी ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि उससे उल्लिखित अन्य शासकों या व्यक्तियों के नाम से हम उस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। इस संदर्भ में उदयगिरि[2] की गुफा से प्राप्त एक अभिलेख उल्लेखनीय है जिसमें सनकानिक नामक सामंत महाराज ने लिखा है कि, "चंद्रगुप्त द्वितीय के चरणों का ध्यान करते हैं"। इसमें तिथि भी उल्लिखित है। यदि इसमें तिथि का अंकन न भी होता तो भी हम चंद्रगुप्त के नाम के आधार पर इस सनकानिक द्वारा उत्कीर्ण अभिलेख की तिथि ज्ञात कर सकते थे।

इसके अतिरिक्त अभिलेखों के और भी गौण महत्व हैं जिसकी चर्चा आगे के अध्याय में प्रसंग वश की जायेगी। उपरोक्त बातों को देखते हुए प्राचीन भारतीय इतिहास व संस्कृति के अध्ययन में अभिलेखों का महत्वपूर्ण स्थान है और इसके द्वारा हम क्रमिक इतिहास की रचना कर सकते हैं।

२. अभिलेखों के उत्कीर्ण करने के अवसर और स्थान

प्राचीन काल में राज्याश्रित कवियों को राजाओं की प्रशंसा अथवा किसी महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख करने के लिये लेखों के आधार की आवश्यकता पड़ती थी। इस समय लोग लेखन कला से अपरिचित थे। यदि लेखन कला से परिचित थे भी तो लेखन कला की सामग्रियों का सर्वथा अभाव था। अध्ययन-अध्यापन श्रुति श्रवण परंपरा से चलती थी। इसीलिये लिखने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। आवश्यकता का अनुभव होने पर जब लोग लिखना प्रारंभ किये तो वे सामग्री ऐसी रही कि प्रकृति के सामान्य प्रभाव से भी नष्ट हो सकती थी। उनके नष्ट होते ही लेख के विषय भी विनष्ट हो जाते थे। इसीलिये लेख के विषय को अमिट बनाने हेतु ऐसी सामग्रियों का पता लगाना आवश्यक हो गया जो क्षण भंगुर न हों। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। शीघ्र ही उन्हें यह सूझा कि यदि प्रस्तर खण्ड, धातु आदि पर लिखें तो वे भोजपत्रों, ताड़पत्रों, वस्त्रों, कागजों की अपेक्षा अधिक

१. का० इ० इ० भाग ३, पृ० ८१-८२
२. वही पृ० २५

दिनों ही नहीं अपितु युगों युगों तक रह सकते हैं। गुप्त काल तक आते आते लोगों की यह मान्यता और भी पुष्ट हो गई। यही कारण है कि गुप्त काल के अभिलेख उसके पहले के कालों की अपेक्षा काफी सुधरे हुए ढंग मे प्राप्त होते हैं। वे पुस्तकों अथवा विनाश शील वस्तुओं पर लिखित सामग्रियों की तरह सरलता से न तो नष्ट हो सकते और न उन्हें सहज विकृत किया जा सकता है। फिर भी वे सदैव सदवस्था में रहें ऐसी बात नहीं, कभी कभी वे खण्डित भी हो जाते हैं। इन सभी मे प्रस्तर खण्ड के सरलता से उपलब्ध होने के कारण उसे स्थायी मान कर अभिलेखों के लिये उसे ही विशेष स्थान मिला है। अभिलेखों के आधार रूप में प्रधानतया शिला खण्ड, स्तम्भ, प्रतिमा, स्तूप, ताम्रपत्र, सिक्के, मोहरें, वेदिका, आयाग पट्ट आदि का उपयोग हुआ है। गुप्तकालीन अभिलेखों के संदर्भ में इन्हीं आधारों व पत्रों को पाते हैं जिनमें प्रयाग प्रशस्ति[१] लौहधातु स्तम्भ मेहरावली[२], इन्दौर ताम्रपत्र[३], मथुरा प्रतिमा लेख,[४] कहाम स्तम्भलेख,[५] गुहा लेख उदयगिरि[६] उल्लेखनीय है।

गुप्तवंशीय शासकों के सर्वप्रथम अभिलेख समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति है जिसमें उसके वंशों का भी नाम उल्लिखित है। यह अभिलेख प्रस्तर द्वारा निर्मित है और इसी की परंपरा में कुमारगुप्त एवं स्कंदगुप्त ने भी प्रस्तर में अभिलेख उत्कीर्ण कराये हैं। प्रस्तर के अतिरिक्त चंद्रगुप्त द्वितीय ने लौह स्तम्भ का भी प्रयोग अभिलेख के लिये किया है तथा स्कंदगुप्त ने इन्दौर के एक अभिलेख में ताम्रपत्र का प्रयोग किया है। मूर्तियों में गुप्त शासकों के प्रतिमा लेख भी प्राप्त हुए हैं जिनमें मानकुंवर की बुद्ध प्रतिमा,[७] द्वितीय कुमारगुप्त की तथा आदित्यसेन की बुद्ध तथा सूर्य मूर्तियों की आधारशिला पर खुदे लेख मिले हैं। इसके अतिरिक्त मध्यप्रदेश की

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० १
२. वही पृ० १३९
३. वही पृ० ६८
४. वही पृ० २७३
५. वही पृ० ६५
६. वही पृ० २५८
७. वही पृ० ४५

एरण प्रतिमा है[1] जो भगवान विष्णु के वराह अवतार की मूर्ति में हूण राजा तोरमाण के यशोगान का प्रतीक है।

अवसर

गुप्तकालीन अभिलेखों का सम्यक् अध्ययन करने से यह विदित होता है कि अभिलेख उत्कीर्ण कराने के निम्नलिखित अवसर होते थे। राज्यारोहण के समय, यज्ञ के समय, धार्मिक अवसर पर, दान के समय, विजय यात्रा के समय, वैवाहिक संबंध के समय तथा विशेष घटनाओं में अभिलेख उत्कीर्ण कराये जाते थे।

राज्यारोहण के समय

अभिलेखों का उत्कीर्णन राज्यारोहण के अवसर पर किया जाता था। अभिलेखों में राज्यारोहण की चर्चा भी प्राप्त होती है, भले ही वह बाद में उत्कीर्ण कराया गया हो। इस संदर्भ में समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति को[2] रख सकते हैं जिसमें चंद्रगुप्त प्रथम द्वारा समुद्रगुप्त को राजा के रूप में चुनने का उल्लेख है।

धार्मिक अवसर

यज्ञ के समय या धार्मिक अवसरों में भी अभिलेख उत्कीर्ण कराये जाते थे। इस संदर्भ में ऐसे अनेक प्रमाण प्राप्त हुए हैं कि राजा ने यज्ञ आदि कार्य सम्पन्न कराने के बाद अभिलेख उत्कीर्ण कराया हो। विजयगढ़ के स्तम्भ अभिलेख[3] में जो कि विष्णुवर्धन द्वारा उत्कीर्ण कराया गया था, यज्ञ सम्पादन करने की चर्चा की गई है। मन्दिर-निर्माण के समय पर भी अभिलेख उत्कीर्ण कराने के प्रमाण प्राप्त हुए हैं जैसे कि विश्ववर्मन् का गंगाधर अभिलेख[4] जिसमें एक विष्णु मन्दिर एवं मात्रिका देवी के मन्दिर निर्माण कराने का उल्लेख है। धार्मिक कार्यों में मूर्तियों की स्थापना की जाती थी और किसी स्थान में उसे प्रतिष्ठापित कर दिया जाता था। गुप्त नरेश स्कंद

---

१. का० इ० इ० भाग ३, पृ० १५८
२. वही पृ० ६
३. वही पृ० २५३-५४
४. वही पृ० ७६

गुप्त ने एक विष्णु की प्रतिमा का निर्माण कराया था जिसकी चर्चा भीतरी के स्तम्भ अभिलेख[1] में की गई है।

दान के अवसर

दान के अवसर में भी अभिलेख का उत्कीर्णन प्रचुर मात्रा में होता था। इस प्रकार का दानपत्र या अभिलेख दानग्रहीता को दे दिया जाता था मूर्तियों के आधार भाग में भी अभिलेख उत्कीर्ण करा दिया जाता था। आर्थिक दान के अनेक अभिलेख इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं जिसमें गढवा का प्रस्तराभिलेख,[2] सांची का प्रस्तराभिलेख[3] हैं तथा भूमिदान के समय उत्कीर्ण अभिलेखों में गुप्तवंशीय शासक के अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इन सभी अभिलेखों में दान से संबंधित आज्ञापत्र उत्कीर्ण हैं।

विजय यात्रा के समय

प्राचीन भारत में विजय यात्रा की समाप्ति पर भी, ताकि अन्य लोगों को भी विजय विवरण मिले, लेख अंकित करवाये जाते थे। इस प्रसंग में गुप्तवंशीय नरेशों के अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो इस बात की पुष्टि करते हैं। इस संदर्भ में समुद्रगुप्त का प्रयाग प्रशस्ति लेख[4] चंद्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि गुहालेख[5] आदि हैं। इन अभिलेखों में उस राजा द्वारा जीते गये प्रदेशों का उल्लेख एवं अन्य घटनाओं का विवरण प्राप्त होता है। इसमें राजाओं के राज्य विस्तार संबंधी ज्ञान एवं विजय प्रयाण की दिशा का ज्ञान भी होता है।

वैवाहिक संबंध

विवाह के अवसरों में भी विवाह संबंधी सूचना हेतु अभिलेख लिखवाये जाते थे जिनमें उक्त राजा व रानी का नाम अंकित होता था। चंद्रगुप्त प्रथम के मुद्रा अभिलेख में लिच्छवी कुमारी श्रीकुमारदेवी का नाम अंकित है। यही नाम समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उसकी माता के नाम के रूप में

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ५४
२. वही पृ० ३७
३. वही पृ० ३१.
४. वही पृ० ७-८-९
५. वही पृ० ३५

तथा स्कंदगुप्त के अभिलेख में पूरे वंश के साथ अंकित है। इस अंकन से ज्ञात होता है कि लिच्छवी दौहित्र समुद्रगुप्त की माता का नाम कुमारदेवी था।

विशेष घटना के समय

उपरोक्त अवसरों के अतिरिक्त अन्यान्य अवसरों में भी अभिलेखों का उत्कीर्णन कराया जाता था जैसे स्कंदगुप्त ने गिरनार में सुदर्शन झील की मरम्मत के समय अभिलेख लिखवाया था।[1] गुप्तकालीन अभिलेखों में भानुगुप्त के एरण लेख[2] में तुमुल युद्ध में उसके अभिन्न मित्र गोपराज की मृत्यु के पश्चात् उसकी भार्या के सती हो जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। मंदसौर के अभिलेख[3] (बन्धुवर्मन्) से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त के काल में बुनकरों की श्रेणियों ने एक सूर्य मन्दिर का निर्माण कराया था। इस अभिलेख से हमें व्यापार संबंधी विशेष घटना का ज्ञान होता है। ये श्रेणी मंदसौर नगर के गुणगान को सुन कर ही अपने भाई बंधुओं को छोड़ कर आये थे। इनके आगमन से व्यापार की वृद्धि हुई थी जिसकी सूचना अभिलेख में मिलती है। यह अभिलेख आज भी बन्धुवर्मन् के द्वारा उत्कीर्ण कराने से चिरस्थायी है।

उपर्युक्त अभिलेखों के उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि भिन्न भिन्न अवसरों में भिन्न भिन्न स्थानों पर अभिलेख उत्कीर्ण कराये जाते थे।

स्थान

यद्यपि अभिलेख किसी भी स्थान में खुदवाये जा सकते थे किन्तु उसके स्थान का चुनाव अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। किसी उद्देश्य विशेष के कारण ही अधिक लेख राजधानी, धार्मिक स्थान, जयस्कंधावार, प्रमुख नगरों एवं सीमान्त प्रदेशों में उत्कीर्ण कराये जाते थे। प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में नगरों का निर्माण ऐसे स्थानों पर किया जाता था जिनका किसी न किसी प्रकार से स्थानीय अथवा भौगोलिक महत्त्व होता था जो कालान्तर में सांस्कृतिक केन्द्र बन गये। अभिलेख उत्कीर्ण कराने में विभिन्न स्थानों का अनुशीलन यह संकेत करता है कि राजधानी, प्रमुख नगर,

---

१. हिस्टोरिकल एंड लिटरेरी इंस्क्रिप्शंस (रा० ब० पाण्डेय) पृ० ६३
२. का० इ० इ० भाग ३, पृ० ९२-९३
३. वही पृ० ८१

धार्मिक स्थान एवं जयस्कंधावार की ओर शासकों का ध्यान विशेष रूप से रहता था और इन स्थानों पर महत्त्व के अभिलेख भी उत्कीर्ण कराये जाते थे। गुप्त नरेशों के अभिलेखों में उदयगिरि गुहा लेख,[1] स्कंद गुप्त का जुनागढ अभिलेख,[2] मंदसौर का अभिलेख[3] उल्लेखनीय हैं। मालवा प्राचीन समय से ही महत्त्वपूर्ण स्थान था जो विदिशा तथा उज्जैनी प्रांत की राजधानी थी। इसी भांति मंदसौर का अभिलेख इस बात का साक्षी है कि राज्य मार्ग में स्थित होने के कारण वहां श्रेणियों में भी व्यापार होता था; राजधानी व नगरों के अतिरिक्त जयस्कंधावारों में भी अभिलेख उत्कीर्ण करवाये जाते थे। ये लेख सदैव विजय के उपलक्ष्य में ही खुदवाये जाते थे। बांसखेड़ा, वल्लभी, खालिमपुर तथा मुंगेर के ताम्रपत्र इसके प्रमाण हैं। प्राचीन समय में जिन स्थानों का सांस्कृतिक महत्त्व होता था वहां पर भी प्रतिमा स्थापन के समय मूर्ति की आधार शिला पर लेख अंकित कराये जाते थे। प्राप्त प्रतिमाओं में मथुराप्रतिमालेख बोधगयाप्रतिमालेख, मानकुंवर प्रतिमालेख, कोसम प्रतिमालेख आदि हैं।[4] इस प्रकार संक्षेप में राज्यसीमा, राजधानी, जयस्कंधावार, धार्मिक स्थान तथा धार्मिक महत्त्व के स्थानों में लेख खुदवाये जाते थे।

३. अभिलेखों में कल्पना और अत्युक्ति

प्राचीन काल में प्रशासक अपनी कीर्ति को स्थायी बनाने हेतु पत्रों[5] के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के पाषाणों तथा धातुओं का उपयोग करते थे। इनकी कीर्तियाँ उनके विद्वान् कवि या उनके सेवक लिखते थे। ये विद्वान् राजाओं की कीर्ति के साथ राज्याश्रित कवि होने के कारण महत्त्वपूर्ण घटना के उल्लेख के लिये भी काव्यात्मक शैली का प्रयोग करते थे। अपने वर्णन में अपनी विद्वत्ता के प्रदर्शन हेतु सुष्ठु, मनोरम तथा प्रांजल भाषाओं का प्रयोग करते थे। साथ ही साथ उनकी कीर्तियों के गुणगान को आकर्षक व चमत्कृत बनाने के लिये काव्य गुणों का भी प्रयोग करते थे। परिणाम

---

१. कॉ० इ० इ० भाग ३ पृ० ३४
२. वही पृ० ५६
३. वही पृ० ७६
४. वही पृ० २६२, २८२, ४६, ४७, २६७
५. कागज पत्र, ताड़पत्र, भोजपत्र आदि

स्वरूप ये अभिलेख ऐतिहासिक तत्वों के प्रतिपादन के अतिरिक्त साहित्य का स्वरूप धारण कर लिये, यद्यपि इन गुणों से युक्त साहित्य अत्यंत लघु है। आचार्य कुन्तक के शब्दों में, "काव्य या साहित्य में कल्पना गुणों का अवलंबन सौभाग्य की बात होती है।"[1] इस सौभाग्य की प्राप्ति का सुअवसर प्रायः सभी प्रशस्तिकारों ने भी प्राप्त किया है। परिणाम स्वरूप अभिलेखों को उत्कीर्ण कराने का उद्देश्य साहित्यिक न होते हुए भी उत्कीर्ण लेखों के अध्ययन से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि प्रशस्तिकार विभिन्न विषयों के प्रतिपादन के साथ साथ साहित्य शास्त्र की परंपरा से पूर्णतः अवगत थे। क्योंकि प्रशस्तियों में साहित्य सौन्दर्य की मनोरम झांकी देखने को मिलती है। गुप्त नरेशों की प्रशस्तियां प्रायः संस्कृत भाषा में लिखी मिलती हैं। प्रयाग प्रशस्तिकार हरिषेण एक उच्चकोटि का साहित्यिक विद्वान् था जिसने गद्य पद्य से युक्त चम्पू साहित्य[2] में समुद्रगुप्त की कीर्ति को उट्टंकित कराया। उसकी यह प्रशस्ति चम्पू साहित्य का एक विशिष्ट उदाहरण है। "श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता। अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः" के गुण प्रयाग प्रशस्ति[3] में उपलब्ध होते हैं। इसमें संस्कृत के अलंकारों का भी प्रयोग किया गया है। इस लेख के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि लेखक चम्पू काव्य शैली में लिखने का अभ्यासी था। इसी प्रकार गुप्तकालीन अन्य विद्वान् 'वत्सभट्टि' जिसकी कीर्ति मात्र अभिलेखों में ही सुरक्षित है के द्वारा रचित मंदसौर अभिलेख[4] साहित्य सौंदर्य की दृष्टि से बेजोड़ है, एवं कालिदास के उच्च काव्य का स्मरण दिला देती है। इसकी भाषा ललित किन्तु अर्थ-गौरव से ओत प्रोत है, पद्य सरल और रसीली वैदर्भी शैली में लिखे गये हैं। अलंकारों का सुन्दर सन्निवेश इसकी चारुता को द्विगुणित कर देता है। इस युग के कवियों में वासुल का नाम भी उल्लिखित किया जा सकता है। गुप्त-कालीन सभी अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इन अभिलेखों में काव्य शैली अलंकार प्राचुर्य, छन्दोबाहुल्य एवं रसप्रावीण्य आदि साहित्यिक गुण प्रशस्तियों के प्राणभूत तत्त्व थे।

---

१. वक्रोक्तिजीवित पृ० १५५
२. साहित्यदर्पण (गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते)
३. प्रयाग प्रशस्ति, का० इ० इ० भाग ३ पृ० ४
४. का० इ० इ० भाग ३, पृ० ७९

गुप्त शासकों के अभिलेखों में साहित्य तो प्राप्त होता ही है परन्तु उसमें कल्पना एवं अत्युक्ति का समावेश किया गया है। इन कल्पनाओं और अत्युक्तियों का प्रयोग उत्कीर्णक नरेश के व्यक्तित्व को प्रस्तुत करते समय, उसका राज्य विस्तार दर्शाते समय तथा छोटी-छोटी घटनाओं के उल्लेख के समय किया गया है। प्रशस्तिकार अपने स्वामी नरेश की प्रशंसा मुक्त कण्ठ से तो अवश्य करता है पर वह भूल जाता है कि उनके इस वर्णन से तथ्यों में काफी परिवर्तन आ गया है। गुप्तकाल में इस प्रकार की प्रशस्तियों का अधिक जोर था जो बाद में सतत रूप से चलता रहा। प्रयाग प्रशस्ति[१] में हरिषेण द्वारा उट्टंकित एक श्लोक में कहा गया है कि, 'धर्मरूपी प्राचीर का बंध, चंद्रमा की किरण के समान शुभ्र कीर्ति तथा दूर दूर तक फैलती हुई तत्त्ववेदिनी विद्वत्ता अर्थात् ऐसा विश्व में कौन गुण है जो उनमें, जोकि गुण तथा बुद्धि को पहचानने में सक्षम लोगों के ध्यान के एक मात्र पात्र हैं, नहीं है? इसी प्रकार के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन समुद्रगुप्त के एरण अभिलेख[२] में प्राप्त होते है कि "वह प्रसन्नता में धनद और क्रोध में अंतक (यमराज) के समान था"। कवि ने यहाँ मानव गुण की तुलना परलोक की देवता से की है। कहने का तात्पर्य यहाँ इतना ही है कि वह उदार भी बहुत था और क्रोधी भी उतना ही था। चंद्रगुप्त के उदयगिरि अभिलेख[३] में चंद्रगुप्त के गुणों का गान इस प्रकार किया गया है कि, "चंद्रगुप्त जो आंतरिक ज्योति से प्रकाशमान होते हुए भी पृथ्वी पर सूर्य के समान भासित होते हैं।" प्रशस्तिकार चंद्रगुप्त की सुन्दरता और ओज को अलंकार रूप से प्रस्तुत किया गया है। कुमारगुप्त के मिन्सड अभिलेख[४] में उसे धनद, वरुण, इन्द्र, अंतक के समान कहा गया है। प्रशस्तिकार यहां राजा के श्रेष्ठ गुणों की कल्पना अत्युक्तिपूर्ण प्रस्तुत करता है। समुद्र गुप्त की ही प्रयाग प्रशस्ति में कहा गया है कि, "वह संगीत विद्या में नारद और तुम्बरु को लज्जित करने वाला था।"[५]

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ६-१०
२. वही पृ० २०
३. वही पृ० ३५८
४. वही पृ० ४३
५. वही पृ० ८

प्रशस्तिकार ने उसके संगीतज्ञ होने की बात को बड़े ही अत्युक्तिपूर्ण शब्दों में प्रस्तुत किया है। स्कंदगुप्त के बिहार अभिलेख[1] में उसे मनुष्यों में चंद्रस्वरूप व शक्ति में इन्द्र के अनुज भगवान विष्णु के समान, गुणों में अनुपम कहा गया है। उपर्युक्त सभी अभिलेख राजा के गुणों की अत्युक्ति एवं कल्पना मिश्रित चर्चा प्रस्तुत करते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे भी अभिलेख गुप्त नरेशों के प्राप्त हुए हैं जिनमें ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी अत्युक्तिपूर्ण वर्णन उत्कीर्ण किये गये हैं। इस कोटि के अभिलेखों में चंद्रगुप्त द्वितीय के मेहरावली अभिलेख (दिल्ली)[2], की एक पंक्ति में विक्रमादित्य का विजय वर्णित है जिसमें कहा गया है, कि "उसने सिंधु नदी के सात मुखों को पार करके वाह्लीकों को जीता, उसकी शक्तिरूपी मलयानिल से दक्षिणी समुद्र आज भी सुगंधित है।" इससे चंद्रगुप्त को दक्षिण का विजयी कहा गया है। परन्तु अन्य प्रमाणों से यह सत्य ज्ञात नहीं होता। इसे आलंकारिक विवरण मानना पड़ेगा। वासुल नामक प्रशस्ति लेखक ने मालवा के शासक यशोधर्मन् के विजय[3] का वर्णन अतिरंजित शब्दों में किया है। इसमें कहा गया है कि यशोधर्मन् ने लौहित्य (आसम) से पश्चिमी समुद्र (रत्नाकर) तथा हिमालय से महेन्द्र पर्वत तक समस्त भूभाग पर अधिकार कर लिया था। तत्कालीन इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह वर्णन अतिरंजित है क्योंकि इस समय पश्चिम भाग में चालुक्य वंश का नरेश तथा मगध में पिछले गुप्त वंश का नरेश शासन कर रहे थे। ऐसी दशा में विजय यात्रा के समय मार्ग में पड़ने वाले शासकों के पराजय का विवरण नहीं दिया गया है। इस प्रकार गुप्त नरेशों का अभिलेख तथा उसके समकालीन एवं बाद के काल में भी यह परंपरा प्रशस्तिकारों की सक्रम बनी रही। वे अपने अभिलेखों के उत्कीर्णन में कल्पना और अतिशयोक्ति को समाविष्ट करके अपने राजा के गौरव को और भी गौरवान्वित करते थे।

४. अभिलेखों के वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता

किसी भी सिद्धान्त की पुष्टि के लिये वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक दृष्टिकोण को अपनाना आवश्यक होता है। गुप्त नरेशों के अभिलेखों के संबंध

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ४६

२. वही पृ० १४१

३. वही पृ० १४६

में भी हमें इसी सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ती है। इन अभिलेखों से राजाओं के चरित्र की व अन्य सूचनाएं प्राप्त होती हैं। क्या हम इन सूचनाओं को शब्दशः सत्य मान सकते हैं ? यदि हां तो उन सूचनाओं से संबंधित तथ्यों की ऐतिहासिकता की पुष्टि के लिये हमें कई दृष्टियों से अध्ययन करना होगा और तभी हम उन अभिलेखों में उट्टंकित तथ्यों को स्वीकार करेंगे। क्योंकि अभिलेखों में साहित्यिक गुणों के कारण काव्यों की भांति अयथार्थता, अतिशयोक्ति आदि गुणों का समावेश रहता है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अनुचित है, परिहार्य है व त्याज्य है। अतः अभिलेखिक वर्णनों को अक्षरशः नहीं स्वीकार कर सकते जैसाकि उसमें उट्टंकित है। इतिहासकार निरक्षर विवेकी होकर वैज्ञानिक पद्धति में इतिहास प्रस्तुत करता है। फलस्वरूप अयथार्थ, अतिशयोक्ति आदि साहित्यिक गुणों का परित्याग करना पड़ता है। इस वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर प्रस्तुत किया गया इतिहास सदैव ही ऐतिहासिकता के धरातल में ही मिलेगा। इसी अध्ययन के द्वारा अभिलेख में वर्णित राजा के धर्म संबंधी विरुद उसके द्वारा कराया गया कोई निर्माण कार्य, शक्ति की वास्तविकता, राजा के गुण, राज्य सीमा एवं राजा के संबंध में कही हुई बातें स्वतः अपने असली गुणों में प्रस्तुत हो जाती हैं। उदाहरण के लिये प्रयाग प्रशस्ति[1] में हरिषेण ने सम्राट् समुद्र गुप्त की कीर्ति को एक नारी के रूप में चित्रित करते हुए लिखा है कि, उसकी कीर्ति एक रमणी (नारी) के समान है। इस कीर्ति रूपी रमणी के विषय में ऐसी कल्पना की गई है कि सम्पूर्ण विश्व को आलिंगन कर लेने के बाद भी उसके लिये पृथ्वी पर कोई स्थान नहीं बचा जहां वह आश्रय ले सके। अतः स्तम्भ के रास्ते वह ऊपर देवलोक चली जाती है। देवलोक में जाने के बाद उसकी तुलना स्वर्ग गंगा से की गई है जो उसी की भांति कीर्ति से द्विलोक, अंतरिक्ष लोक एवं भूलोक को आप्लावित करती है। हरिषेण द्वारा वह एक साहित्यिक वर्णन है। हम इसे अक्षरशः स्वीकार नहीं कर सकते। इस वर्णन में ऐतिहासिक तथ्य केवल इतना प्रकट होता है कि समुद्रगुप्त एक सुयोग्य राजा था एवं उसकी कीर्ति सब ओर व्याप्त थी।

इसी प्रकार का उल्लेख चंद्रगुप्त द्वितीय के मेहरावली अभिलेख[2] में

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० १०
२. वही पृ० १४१

भी प्राप्त होता है जिसमें प्रशस्तिकार में चंद्रगुप्त द्वितीय की कीर्ति का वर्णन इस प्रकार किया है कि, 'उसने सातसमुद्रों को पार कर वाह्लीकों को जीता, "वह जिसकी शक्ति रूप मलयानिल से दक्षिण समुद्र आज भी सुगंधित है।" यहां पर चद्रगुप्त के संबंध में प्रशस्तिकार यही कहना चाहता है कि वह एक महान् शक्तिशाली राजा था और उसकी शक्ति से सभी लोग प्रभावित थे। स्कंद गुप्त के जुनागढ अभिलेख[1] में कहा गया है कि, "जिन्होंने मान तथा दर्प से वशीभूत अपने फणों को उठाए हुए सर्पों के समान शत्रु राजाओं के विरुद्ध अपने क्षेत्रीय प्रतिनिधियों—जो गरुड के सदृश थे—की सत्ता में सौर की स्थापना की। इसी में कहा गया है कि जिनका वक्षःस्थल धन तथा श्री देवी द्वारा आलिंगित है। वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि उल्लिखित पंक्ति जा अर्थ यही है कि राजा अत्यंत समृद्धशाली एवं शक्ति शाली था जिसने अपने शत्रुओं के घमण्ड को चूर किया था। कुमार गुप्त के मन्दसौर अभिलेख[2] (बंधुवर्मन्) में कुछ वर्णन ऐसे प्राप्त होते हैं जिनमें मंदसौर की चर्चा की गई है। प्रशस्तिकार ने तथ्यों को इस ढंग से प्रस्तुत किया हैं कि, "घरों के ऊपर बने हुए बड़े भवन कैलाश पर्वत की ऊंची चोटियों के समान हैं एवं गंधर्वों के गीतों के समान गुंजायमान हैं। विविध चित्रों से युक्त है तथा डोलायमान कदली के वृक्षों की गुल्मों से अलंकृत है, मानों पृथ्वी को फाड़कर निकले हों। ऐसे कई तलों वाले विमान पंक्तियों के समान भवन हैं।" इस वर्णन को हम अक्षरशः स्वीकार नहीं कर सकते। इसमें ऐतिहासिक तथ्य इतना ही है कि यहां के भवन आकर्षक एवं काफी ऊचे थे। इसी प्रकार आगे हमें नगर की चर्चा इस प्रकार प्राप्त होती है कि, 'मत्त हाथियों के गंडस्थल से चूते हुए मदबिन्दुओं से सिक्त शिलाखण्डों वाले सशस्त्र पर्वतों से सुशोभित तथा पुष्पावनत वृक्ष रूपी आलंकारिक कर्णाभूषणों को धारण करने वाली पृथ्वी का तिलक सा बन गया।" अभिलेख का वस्तुतः अर्थ यह है कि यहां हाथियों की संख्या अधिक थी, एवं नगर पर्वतों से घिरा हुआ था।

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ५६

२. वही पृ० ८१

उपर्युक्त वर्णनों के अतिरिक्त समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति[1] में एक स्थान पर उसे लिच्छवि दौहित्र कहा गया है। इस बात की पुष्टि तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर प्राप्त गुप्त नरेशों के अन्य अभिलेखों में वर्णित "लिच्छविदौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य" से कर सकते हैं। यह उल्लेख हमें स्कन्दगुप्त के भीतरी अभिलेख[2], विहार अभिलेख[3] कुमारगुप्त के विलसड अभिलेख[4] में भी प्राप्त होता है। इस वर्णित उल्लेख की चर्चा चंद्रगुप्त प्रथम के राजा रानी प्रकार के मुद्रा अभिलेख[5] में भी की गई है जिसमें कुमारदेवी एवं चंद्रगुप्त के सिक्के के पृष्ठ भाग पर दोनों के चित्र साथ साथ अंकित हैं तथा दूसरी तरफ "लिच्छवय:" अंकित है। इन उल्लेखों से प्रमाणित होता है कि चंद्रगुप्त प्रथम का विवाह लिच्छवि वंश की कुमारी कुमारदेवी से हुआ था। उसी के कारण समुद्रगुप्त को अभिलेखों में लिच्छवि-दौहित्र कहा गया है।

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार से हम कह सकते हैं कि अभिलेखों का तुलनात्मक तथा वैज्ञानिक अध्ययन करना आवश्यक होता है जिसके बाद ही इतिहासकार ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत करने में सफल होता है।

५. गुप्त अभिलेख-संख्या-विषय वस्तु

गुप्त नरेशों के निम्नलिखित अभिलेख प्राप्त हुए हैं:

१. समुद्रगुप्त

१ **प्रयागप्रशस्ति** (स्तम्भलेख)

इस अभिलेख में समुद्रगुप्त का सैनिक सफलताओं (दिग्विजय) और विभिन्न गुणों का वर्णन प्राप्त होता है।

२. एरण प्रशस्ति

इस अभिलेख में एरण नगरी का वर्णन किया गया है।

३. नालंदा ताम्रपत्र

इस ताम्रपत्र में जयभट्ट को भूमिदान देने का उल्लेख किया गया है।

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ ८-९

२. वही पृ० ५३

३. वही पृ० ५०

४. वही पृ० ४३

५. गुप्तकालीन मुद्राएं (अ० स० अल्तेकर) पृ० २४

४. गया ताम्रपत्र

इस ताम्रपत्र में गोपदेव स्वामी को भूमिदान देने की चर्चा है।

२. रामगुप्त

१. मालवा प्रतिमालेख

इस प्रतिमा की चरण चौकी में आठवें तीर्थंकर का नाम अंकित है।

२. प्रतिमालेख द्वितीय

इस प्रतिमा में नवें तीर्थंकर का नाम उसकी चरण चौकी पर अंकित है।

३. प्रतिमालेख तृतीय

इस प्रतिमा की चरण चौकी में तीर्थंकर चंद्रप्रभ का नाम उत्कीर्ण है।

३. चन्द्रगुप्त द्वितीय

१. मथुरा स्तम्भलेख

इसमें दो मूर्तियों की स्थापना की सूचना मिलती है।

२. उदयगिरि अभिलेख (प्रथम)

इस अभिलेख में गुफा निर्माण कार्य की चर्चा प्राप्त होती है।

३ उदयगिरि गुहा लेख (द्वितीय)

इस अभिलेख में वीरसेन द्वारा शिवमंदिर के गुहानिर्माण की चर्चा प्राप्त होती है।

४. गढ़वा शिलालेख

इसमें भिक्षागृह के लिये १० दिनार दान देने का उल्लेख है।

५. सांची शिलालेख

काकनादबोट महाविहार के आर्यसंघ को २५ दिनार एवं ग्राम दान देने का उल्लेख प्राप्त होता है।

६. मेहरावली प्रशस्ति

इस प्रशस्ति में चंद्र नामक राजा के दिग्विजयों एवं विष्णु पर्वत पर स्तंभ स्थापित कराने का उल्लेख प्राप्त होता है।

४. कुमारगुप्त प्रथम

१. विलसड स्तंभलेख

इस अभिलेख में एक प्रतोली सत्र की स्थापना और महासेन के मंदिर में इन स्तंभों के लगाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।

२. गढ़वा शिलालेख (द्वितीय)

इस गढ़वा शिला लेख में भिक्षागृह के लिये दान देने का उल्लेख प्राप्त होता है।

३. गढ़वा शिलालेख (तृतीय)

इस अभिलेख में सत्र के स्थायी प्रबंध के निमित्त १३ दिनार देने का उल्लेख है।

४. उदयगिरि गुहालेख (तृतीय)

इस गुहा अभिलेख में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित किये जाने का उल्लेख है।

५. घनैदह ताम्रपत्र

इस ताम्रपत्र अभिलेख में धार्मिक कार्य के निमित्त भूमिक्रय की घोषणा की गई है।

६. मथुरा जैन मूर्तिलेख

यह अभिलेख प्रतिमा पर उत्कीर्ण है जिसमें इस प्रतिमा के स्थापित कराये जाने की चर्चा है।

७. तुमैन शिलालेख

इस शिलालेख में पाँच भाइयों के द्वारा एक मंदिर निर्माण कराने का उल्लेख किया गया है।

८. मंदसौर शिलालेख

इस शिलालेख में रेशम बुनने वाले बुनकरों का लाट विषय से दसपुर आने की चर्चा तथा बंधुवर्मन् गोप्ता के समय में तंतुवायों की श्रेणी द्वारा एक सूर्य मन्दिर के निर्माण कराये जाने का उल्लेख है।

९. करमदण्डा लेख

इस लेख में पृथ्वीषेण द्वारा कतिपय ब्राह्मणों को दान देने का उल्लेख प्राप्त होता है।

१०. कुलाइकुरी ताम्रलेख

इस ताम्रलेख में भूमिप्रबंध तथा भूमिक्रय व्यवस्था की चर्चा प्राप्त होती है।

११. दामोदरपुर ताम्रपत्र (प्रथम)

इस ताम्रपत्र में ब्राह्मण द्वारा भूमि क्रय करने का आवेदन प्रस्तुत किया गया है जिसकी चर्चा इसमें प्राप्त होती है।

१२. दामोदरपुर ताम्रपत्र (द्वितीय)

इस ताम्रपत्र में भूमिदान की एक विज्ञप्ति की गई है।

१३. वैग्राम ताम्रलेख

इस ताम्रपत्र में पूजा के निमित्त फूल, सुगंध आदि के व्यय तथा मंदिर के व्यय हेतु दान देने का उल्लेख प्राप्त होता है।

१४. मानकुंवर मूर्तिलेख

इस प्रतिमा की चौकी में एक अभिलेख उत्कीर्ण है जिसमें भिक्षु द्वारा बुद्ध प्रतिमा प्रतिष्ठित किये जाने का उल्लेख है।

५. स्कन्द गुप्त

१. जुनागढ़ प्रशस्ति

इस अभिलेख में पर्णदत्त को सौराष्ट्र का राज्यपाल नियुक्त करने का तथा उसके पुत्र चक्रपालित द्वारा सुदर्शन झील जो अत्यधिक वर्षा से नष्ट हो गई थी के पुनः निर्माण कराने का उल्लेख है।

२. कहौम अभिलेख

इस अभिलेख में पांच तीर्थंकरों से युक्त स्तंभ प्रतिष्ठित कराये जाने का उल्लेख है।

३. सुपिया स्तंभलेख

इस अभिलेख में एक गोत्र सौलिक स्थापित कराने का उल्लेख है।

४. इन्दौर ताम्रपत्र

इस ताम्रपत्र में मन्दिर में दीप जलाने के लिये दान देने का उल्लेख है।

५. भीतरी प्रशस्ति

इस प्रशस्ति में एक विष्णु प्रतिमा प्रतिष्ठित कराने तथा मंदिर की व्यवस्था हेतु एक ग्राम दान देने का उल्लेख है।

६. गढवा अभिलेख

इस अभिलेख में विष्णु की प्रतिमा स्थापना तथा गंध, धूप आदि के लिये भूमि दान देने की चर्चा है।

६. कुमारगुप्त द्वितीय

१. सार नाथ प्रतिमालेख

इस प्रतिमा की चरण चौकी पर एक अभिलेख है जिसमें बुद्ध मूर्ति प्रतिष्ठित कराने की चर्चा की गई है।

७. पुरुगुप्त

१. बिहार स्तंभलेख

इस अभिलेख में एक स्कंद मंदिर के निमित्त भूमिदान देने की चर्चा है।

८. बुद्धगुप्त

१. सारनाथ मूर्तिलेख

इस अभिलेख में मूर्ति प्रतिष्ठित कराने की चर्चा की गई है।

२. सारनाथ मूर्तिलेख

इस अभिलेख में मूर्ति प्रतिष्ठित कराने की चर्चा मिलती है।

३. पहाड़पुर ताम्रपत्र

इसमें अतिथिशाला के निर्माण तथा अर्हंत की पूजा हेतु भूमि क्रय के लिये आवेदनपत्र की चर्चा है।

४. राजघाट अभिलेख

इस अभिलेख में स्तम्भ स्थापित कराने की चर्चा है।

५. दामोदरपुर ताम्रपत्र

इस ताम्रपत्र में भूमि सम्बन्धी चर्चा की गई है।

६. एरण लेख

इस अभिलेख में ध्वज स्तम्भ स्थापित कराने का उल्लेख है।

७. दामोदरपुर ताम्रपत्र

इस ताम्रपत्र में भूमि क्रय के लिये की गई निवेदन की स्वीकृति की चर्चा है।

८. नन्दपुर ताम्रपत्र

इस ताम्रपत्र अभिलेख में भूमिक्रय के निवेदन की स्वीकृति का उल्लेख है।

९. वैन्यगुप्त

१. गुणोदर ताम्रलेख

इस ताम्रलेख में पूजा आदि की व्यवस्था के लिये भूमिदान की चर्चा की गई है।

१०. भानुगुप्त

१. एरण स्तम्भलेख

इस अभिलेख में गोपराज की पत्नी के सती हो जाने की चर्चा है।

२. दामोदर पुर ताम्रपत्र

इस ताम्रपत्र में भूमिक्रय की विज्ञप्ति की गई है।

६. अभिलेखों का वर्गीकरण

गुप्तवंश के अभिलेखों का विषय वस्तु के आधार पर हम वर्गीकरण कर सकते हैं। ये गुप्तकालीन अभिलेख पाषाण, ताम्र और लोहे पर अंकित हैं। इनमें गुप्तों की राजनैतिक, धार्मिक एवं आर्थिक दशा का विवरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। इन अभिलेखों को मुख्यत: दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

१. निजी अभिलेख
२. राजकीय अभिलेख

१. निजी अभिलेख

गुप्त सम्राटों के शासन काल में किसी व्यक्ति द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए निजी अभिलेख देवी देवताओं की मूर्तियों और धार्मिक स्थलों पर अधिक मात्रा में मिलते हैं। इनमें दानदाता के दान की चर्चा, समकालीन शासकों का उल्लेख और उनके परिवार का योगदान मिलता है। इनमें गुप्त सम्वत् भी अंकित होता है परन्तु कुछ ऐसे भी अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिनमें गुप्तों की तिथि या तो लिखी नहीं है या नष्ट हो चुकी है।

२. राजकीय अभिलेख

इन अभिलेखों में राजाओं की प्रशस्तियां होती हैं जो राजकवियों अथवा अन्य राजकर्मचारियों द्वारा अपने स्वामी नरेश की प्रशंसा में उत्कीर्ण कराई गई हैं। इनमें कुछ दानपत्र भी होते हैं और प्रशस्तियां एवं आदेश दानपत्र भी, दानपत्र पर अंकित किये जाते थे। इन पत्रों में राजा द्वारा भूमि का दान अथवा भूमि के विषय की सीमा दान का उद्देश्य आदि विषयों का उल्लेख रहता है। इन राजकीय अभिलेखों में कहीं कहीं शासक का संक्षिप्त जीवन एवं उसकी उपलब्धियां और पूर्वजों का वर्णन भी प्राप्त होता है। इस प्रकार के अभिलेखों में प्रयाग प्रशस्ति,[1] मेहरावली प्रशस्ति[2] आदि उल्लेखनीय हैं। इन दोनों प्रकार के अभिलेखों का वर्गीकरण उनके उत्कीर्ण आधार एवं स्थान को देखते हुए इस प्रकार भी कर सकते हैं।

१. स्तम्भलेख[3]

वे अभिलेख जो स्तम्भों पर उत्कीर्ण कराये जाते थे इस कोटि के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। इनमें प्रयाग प्रशस्ति, चन्द्रगुप्त का मथुरा लेख, मेहरावली का लोह स्तम्भ, कुमारगुप्त का विलसड स्तम्भलेख, स्कन्धगुप्त का कहौम स्तम्भलेख, सुपिया स्तम्भलेख, भीतरी स्तम्भलेख, पुरुगुप्त का स्तम्भलेख, बुधगुप्त का ऐरण स्तम्भलेख और भानुगुप्त का ऐरण स्तम्भ-लेख उल्लेखनीय हैं।

२. शिलालेख[4]

गुप्तवंश के नरेशों के अनेक शिलालेख भी प्राप्त हुए हैं। इनमें प्रशस्ति-कारों ने ऐतिहासिक तथ्यों को भी प्रस्तुत किया है जो कि शिलाखण्डों पर उत्कीर्ण है। इन शिलालेखों की कोटि में ऐरणप्रशस्ति (समुद्रगुप्त का), चन्द्रगुप्त का गढवा शिलालेख, सांची लेख, कुमारगुप्त का गढ़वा शिला-लेख, तिथिविहीन गढ़वा लेख, तुमेन शिलालेख, मन्दसौर शिलालेख आदि उल्लेखनीय हैं।

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० १
२. वही पृ० १३९
३. वही पृ० ४२, ६५, ५२, ४७, ८९, ९१
४. वही पृ० १८, ३६, २९, ४०, ३९, ७९

३. गुहालेख[1]

गुप्त नरेशों ने गुफाओं में भी अनेक अभिलेख उत्कीर्ण कराये हैं जो गुंफा के अन्दर या बाहरी भाग में प्राप्त होते हैं। इनमें चन्द्रगुप्त का उदयगिरि गुहालेख प्रथम एवं द्वितीय गुहालेख तथा कुमारगुप्त का उदयगिरि लेख उल्लेखनीय हैं।

४. ताम्रपत्रलेख[2]

ताम्रपत्र लेखों में अनेक उल्लेखनीय अभिलेख गुप्त नरेशों के प्राप्त हुए हैं। ये अभिलेख ताम्र पत्रों पर उत्कीर्ण कराये जाते थे तथा उनमें दान का वर्णन होता है और ये दानपत्र कहलाते थे। इनमें से कुछ ऐसे ताम्रपत्र है जिनमें भूमि सम्बन्धी दान की चर्चा प्राप्त होती है जैसे समुद्रगुप्त का नालंदा एवं गया ताम्रपत्र, कुमारगुप्त का ध्वनैदह ताम्रपत्र कुलाइकुरी, दामोदरपुर प्रथम ताम्रपत्र, दामोदरपुर द्वितीय, वैग्राम ताम्र पत्र, स्कन्द गुप्त का इन्दौर ताम्रपत्र, बुधगुप्त का पहाड़पुर, दामोदरपुर ताम्रपत्र आदि उल्लेखनीय है।

५. मूर्तिलेख[3]

गुप्त वंश के शासकों के राज्यकाल में मूर्तियों का निर्माण किया गया जो वैष्णव, जैन, बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं। प्रायः इन मूर्तियों में अभिलेख भी उत्कीर्ण किये गये हैं जो इतिहास के लिये उपयोगी हैं। इनमें कुमार गुप्त का मथुरा जैन मूर्ति लेख, करमदण्डा लिंग लेख, मानकुवर का बुध लेख, कुमार द्वितीय का सारनाथ प्रतिमा लेख, बुध गुप्त का सारनाथ मूर्ति लेख तथा मथुरा के दो अन्य अभिलेख उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार अनेक प्रतिमा लेख गुप्त नरेशों के प्राप्त हुए हैं।

इस प्रकार गुप्तों के अभिलेख उपर्युक्त प्रकार से विभक्त किये गये, जो इतिहास के लिये सहयोगी हैं।

७. अभिलेखों का सांस्कृतिक मूल्यांकन

किसी भी देश की संस्कृति तथा इतिहास की संरचना में अभिलेखों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। गुप्त नरेशों के अभिलेख भारतीय संस्कृति

---

१. का० इ० इ० भाग ३, पृ० २१, ३४, २५८

२. वही पृ० ६८,३५४

३. वही पृ० ४५, २६२, २७३

तथा इतिहास पर प्रचुर मात्रा में प्रकाश डालते हैं, जिसके अंतर्गत सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक, शैक्षणिक, आर्थिक तथा धार्मिक स्थितियों का ज्ञान मिलता है।

समाज को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के लिये प्राचीन भारतीय समाज शास्त्रियों ने समाज को चार वर्गों में बांटा था। ये हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इस विभाजित वर्ग को वर्ण कहा गया है। गुप्त अभिलेखों में यद्यपि इस वर्ण शब्द का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है किन्तु वर्ण के विभिन्न घटकों का उल्लेख होने से वर्ण व्यवस्था की परम्परा चले आने की पुष्टि होती है जिससे स्पष्ट है कि गुप्त काल में भी वर्णव्यवस्था का प्रचलन था। वर्ण में ब्राह्मण[1] एवं क्षत्रिय[2] का स्पष्ट उल्लेख अभिलेखों में हुआ है परन्तु वैश्य शब्द का उल्लेख न होते हुए भी वणिकों[3] व श्रेणियों[4] के उल्लेख से वैश्य वर्ण के अस्तित्व का ज्ञान होता है। शूद्रों का स्पष्ट उल्लेख न होते हुए भी अभिलेखों में कुछ ऐसे कार्यरत व्यक्तियों को दर्शाया गया है जिन्हें शूद्र[5] ही कहते थे। इन सब बातों से वर्ण व्यवस्था पर प्रकाश डाला जा सकता है। इसी प्रकार आश्रम की चर्चा अभिलेखों में नहीं की गई है। परन्तु ब्रह्मचारी,[6] गृहस्थ[7] तथा संन्यास[8] आदि शब्दों के प्रयोग से आश्रम की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। परिवार[9] शब्द का प्रयोग न होते हुए भी अभिलेखों से परिवार के विभिन्न सदस्यों व उनके सम्बन्धों का ज्ञान होता है। परिवार में रहने वाले विभिन्न व्यक्ति विभिन्न प्रकार के आभूषणों व परिधानों[10] को धारण करते थे।

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ६७, ३८, २५७
२. वही पृ० ७०
३. वही पृ० ७०, ५०
४. वही पृ० ७०, ८२, ए० इ० भाग १५ पृ० १३४
५. ए० इ० भाग १५ पृ० १३४
६. का० इ० इ० भाग ३ पृ० १५७
७. वही पृ० ३२
८. वही ६७
९. वही पृ० ३०, २०३
१०. वही पृ० ८२, २०३

अभिलेखों में कुछ वीर समाज एवं अनुचर समाज[1] के उल्लेख के आधार पर यह अनुमान लगाना सहज ही है कि आधुनिक समाज के विभिन्न संगठनों की भांति गुप्त काल में ही विभिन्न प्रकार के संगठन रहे होंगे। इस प्रकार वर्ण, आश्रम, परिवार, पारिवारिक व्यक्ति के वस्त्र-आभूषण आदि पर यह अभिलेख न्यूनाधिक मात्रा में प्रकाश डालते हैं।

गुप्तकालीन राजनीति पर भी उनके अभिलेख प्रचुर मात्रा में प्रकाश डालते हैं। राजाओं के विजय, राज्यविस्तार[2] पर प्रकाश इन अभिलेखों से विशेष रूप से पड़ता ही है, साथ ही साथ शासन व्यवस्था पर भी प्रचुर मात्रा में पड़ता है। अभिलेख प्रांतीय शासकों की नियुक्ति, योग्यता, कर्तव्य[3] तथा मन्त्री परिषद के सदस्यों[4] पर भी प्रकाश डालता है। राज्य के सप्तांग प्रकृति[5] के कुछ घटकों का उल्लेख इन अभिलेखों से प्राप्त होता है जिनके आधार पर सप्तांग प्रकृति का अनुमान भलीभांति किया जा सकता है। न्यायव्यवस्था का अनुमान अभिलेखों में वर्णित महादण्डनायक[6] कर्मचारी की नियुक्ति से किया जा सकता है। यह अभिलेख गुप्तों के परराष्ट्र सम्बन्ध पर भी प्रकाश डालते हैं। समुद्रगुप्त ने विभिन्न राज्यों को जीत कर उनके साथ विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किये थे।[7]

गुप्तकाल में अनेक धर्म से सम्बन्धित अलग-अलग सम्प्रदाय थे। धर्म के सैद्धान्तिक रूप का ही दर्शन होता है। अतः इस काल में दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय रहे होंगे, भले ही उनका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु दर्शन के सिद्धान्त अलग-अलग परिलक्षित होते हैं। दुःखों के निराकरण[8] तथा धर्म के शत्रुओं का विनाश, नित्य और अनित्य[9] आदि उल्लेखों के आधार

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० २०३
२. वही पृ० ४, १४०, ६०
३. वही पृ० ५६, ६०
४. वही पृ० ३५
५. वही पृ० २०, २१५, २५४
६. वही पृ० ३५, ६
७. गुप्त साम्राज्य का इतिहास (उपाध्याय बलदेव) भाग १ पृ० ६२
८. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ४७
९. वही पृ० २६३

पर बौद्ध दर्शन का अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार योगदर्शन[1] का स्पष्ट उल्लेख एवं दार्शनिक सोमत्रात[2] की चर्चा मिलती है।

उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर दार्शनिक स्थिति का अनुमान भली भांति किया जा सकता है।

भारतीय इतिहास में गुप्त काल को स्वर्ण युग माना जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में भी उसका विकास हुआ होगा यह कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। अभिलेख यद्यपि तत्कालीन शिक्षा पद्धति का कोई क्रमबद्ध विवरण नहीं देता परन्तु यत्र तत्र आये शिक्षा सम्बन्धी विवरण विद्यावैभव एवं शिक्षा पर प्रकाश डालते हैं। अभिलेखों में शिक्षक को आचार्य[3] एवं गुरु[4] शब्द से सम्बोधित किया गया है तथा विद्यार्थी को शिष्य[5] कहा गया है। गुरुकुल का स्पष्ट उल्लेख इन अभिलेखों में प्राप्त नहीं होता परन्तु ब्राह्मण के विविध गोत्रों एवं चरणों[6] से अनुमान किया जा सकता है कि पूर्व की भांति शिक्षा गुरुकुल में ही दी जाती थी। विभिन्न, विषयों का ज्ञान हमें प्रस्तुत अभिलेख से होता है जिसमें काव्य और गन्धर्व विद्या,[7] अर्थ (व्याकरण) विद्या, न्यायविद्या, ज्योतिश्शास्त्र,[8] संगीत विद्या,[9] धनुर्विद्या[10] आदि का उल्लेख मिलता है। अभिलेखों में विद्वान् ब्राह्मणों को भक्त[11] तथा चारों वेदों में पारंगत विद्वानों को चतुर्वेदी[12] कहा गया है। इसके अतिरिक्त

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० २७०
२. वही पृ० २७०
३. वही पृ० २५६
४. वही पृ० २८१
५. वही पृ० ३५
६. ए० इ० १० पृ० ७१
७. वही, पृ० २६
८. वही पृ० ८२
९. वही पृ० ५४, ८
१०. वही पृ० ६, ८२
११. वही पृ० ५०
१२. वही पृ० ७०

कवि और साहित्यकारों के नाम भी प्राप्त होते हैं जिनमें हरिषेण[१] एवं वत्सभट्टि[२] उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में भी अभिलेख पर्याप्त मात्रा में प्रकाश डालते हैं।

आलोच्य अभिलेख कला की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर हम इस काल की कलाप्रियता का अनुमान कर सकते हैं। गुप्त नरेशों एवं उनके अधीन अन्य व्यक्तियों ने वास्तुकला से सम्बन्धित मन्दिर आदि एवं मूर्ति कला से सम्बन्धित मूर्तियों का निर्माण करवाया जिसकी चर्चा उनके अभिलेखों से प्राप्त होती है। अभिलेखों से मन्दिर,[3] गुहा मन्दिर एवं विहार,[४] स्तम्भवास्तु, मूर्तिकला,[५] चित्रकला, संगीतकला[६] आदि सभी विधाओं का ज्ञान होता है।

गुप्त अभिलेखों से आर्थिक स्थिति का भी ज्ञान होता है। सभी गुप्त नरेश कोष की पूर्ति धर्म सम्मत[७] आय कर से न्यायपूर्वक करते थे। विभिन्न प्रकार के आय करों का ज्ञान भी इन अभिलेखों से होता है जिनमें उद्रंग (उपज का एक भाग जो पहले भोग कहलाता था), एवं उपरिकर की चर्चा प्रायः सभी अभिलेखों में मिलती है। कर राशि तथा सोने (हिरण्य) के रूप में तथा सभी प्रकार की वस्तुओं का सर्वकर[८] दान का उल्लेख भी प्राप्त होता है। आर्थिक दण्ड[९] एवं राजस्व[१०] से भी कोष की पूर्ति होती थी। राजस्व में चरगाहे खानों, पशुओं के चर्म, लकड़ी के कोयले, पुष्प एवं दुग्ध

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० १०
२. वही पृ० ८३
३. वही पृ० ४६, ५०, ७०
४. वही पृ० ३२, ३५, २७२
५. वही० पृ० ४६, ८६, २४६, ५४
६. वही पृ० ८१, ५४, ८
७. वही पृ० ३६, ५६, २५६
८. वही पृ० ८
९. वही पृ० २१७
१०. सिलैक्टेड इंस्क्रिप्शंस (डी० सी० सरकार) पृ० ११४

में भी राजा का भाग होता था । भूमि क्रय-विक्रय,[१] व्यापार-धन्धे,[२] एवं (दिनार रूप में) विनिमय[३] की भी चर्चा मिलती है ।

धार्मिक स्थिति का ज्ञान भी इन अभिलेखों से होता है चूंकि हमारा मुख्य विषय धार्मिक अध्ययन है अतः उसकी चर्चा आगे के अध्याय में विस्तारपूर्वक की जायेगी ।

८. अभिलेखों की अपूर्णता तथा दोष

अभिलेखों में साहित्यिक गुणों का समावेश होने से उनमें कल्पना व अत्युक्ति के पुट भी आ जाते हैं जिसके परिणाम स्वरूप उनमें अनैतिहासिक तथ्यों का भी उल्लेख हो जाता है जो इतिहास की दृष्टि से अनुचित है क्योंकि इतिहास यथार्थ के धरातल पर ही लिखा जाता है । गुप्त नरेशों के अभिलेखों में भी हमें यह सभी गुण दिखलाई पड़ते है । प्रायः सभी अभिलेखों में साहित्यिक गुणों का समावेश करके तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है ।[४] कतिपय ऐसे अभिलेख भी हैं जिनमें उत्कीर्ण कराने वाले शासक या व्यक्ति का नाम अलंकारिक शब्दों के साथ संक्षिप्त रूप में उल्लिखित है । ऐसे नामों की तदात्मता करने में कठिनाई होती है । मेहरावली के स्तम्भाभिलेख[५] में चन्द्र नामक किसी राजा का नाम अंकित है । चन्द्र नाम वाले अनेक राजा भारतीय इतिहास में हो चुके हैं । अतैथिक अभिलेख होने के कारण मेहरावली के स्तम्भाभिलेख के चन्द्र की तदात्मता अभी तक निश्चित रूप से नहीं हो पाई है ।

अभिलेखों का सही-सही अध्ययन तभी सम्भव है जबकि अभिलेख पूर्ण हों । अभिलेखों की पंक्तियों के खंडित होने, मिट जाने तथा अप्राप्त होने से अभिलेख की बहुत सी विषय-वस्तुओं से हम परिचित नहीं हो पाते हैं । समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति की प्रारम्भिक कुछ पंक्तियों के टूट जाने से उस पंक्ति

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ३४२, ३४६
२. वही० पृ० ६७०, ८३
३. वही पृ० ३२, ४०
४. वही पृ० ६, १३६, ७६
५. वही पृ० १३६

में वर्णित तथ्यों के ज्ञान से वंचित होना पड़ा है। खंडित अवस्था में होने के कारण इस संदर्भ में हम कुछ भी नहीं कह सकते कि वहां पर क्या उत्कीर्ण रहा होगा। इसी प्रकार समुद्रगुप्त का ऐरण अभिलेख, चन्द्रगुप्त का मथुरा अभिलेख, चन्द्रगुप्त का गढ़वा अभिलेख, कुमारगुप्त का गढ़वा अभिलेख, स्कन्दगुप्त का बिहार अभिलेख भी खण्डित अवस्था में प्राप्त हुए हैं।[1] इनमें से कुछ अभिलेखों का प्रारम्भिक भाग टूटा हुआ है तो कुछ का अंतिम। कहीं-कहीं मध्य के अक्षरों, पंक्तियों तथा शब्दों के अप्राप्त होने से इतिहास का निखरा तथा सम्यक् रूप हम प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं और संभावनाओं के बीच गुजरने लगते हैं। कुछ ऐसे भी अभिलेख प्राप्त होते है जिनमें नाम तो अंकित रहता है पर उनमें तिथि नहीं रहती। ऐसी स्थिति में यदि एक ही नाम के अनेक राजा हों तो यह प्रश्न उठता है कि यह अभिलेख किस राजा का है? परिणाम स्वरूप विवाद उत्पन्न हो जाता है। यदि मेहरावली के अभिलेख में तिथि अंकित होती तो हमें उसमें अंकित चन्द्र को पहचानने में सहायता मिल सकती थी। इसी प्रकार एरण के भानुगुप्त के अभिलेख में निश्चित तिथि न रहने के कारण एरण के भानुगुप्त की पहचान ठीक से नहीं हो पाती है और न यह ही निश्चय हो पाता है कि भानुगुप्त किस वंश के किस काल में हुआ था। केवल संभावनाओं के आधार पर इसे गुप्तकालीन मानते हैं। इसी प्रकार कुछ अभिलेखों में नाम एवं तिथि दोनों अंकित है परन्तु कठिनाई यह होती है कि यह तिथि कौन सी है इसका उल्लेख अभिलेखों में न होने से यह भी विवाद उत्पन्न कर देता है कि यह व्यक्ति कौन हो सकता है।[2]

कभी कभी अभिलेख तिथि एवं नाम के अभाव में महत्त्वपूर्ण होते हुए भी महत्त्वहीन कोटि में गिने जाते हैं क्योंकि उन्हें हम तिथि व नामाभाव के कारण किसी भी शासक से संबंधित नहीं कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में ये अभिलेख अपूर्ण होते हैं और उन्हें हम लिपि के आधार पर अनुमान से सम्भावित शासक के काल में रखते हैं। देवरिया प्रतिमा लेख, कसिया

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० १८, २५, ३६, ६९, ४७
२. वही पृ० १३९, ९१

लेख, गढ़वा लेख, सांची प्रस्तर स्तम्भ आदि इसी प्रकार के लेख हैं।[1] इसी भांति कुछ अभिलेखों में कवि के नामोल्लेख का अभाव रहता है, यदि अभिलेखों में प्रशस्तिकार का नाम मिलता तो अभिलेख की तिथि निर्धारित करने में सहायता मिल सकती थी क्योंकि कभी कभी प्रशस्तिकारों के साथ-साथ आश्रयदाता राजा का नाम भी उट्टंकित होता है। प्रशस्तिकार अपने सम्मान की वृद्धि के लिये राजा का नाम अपने साथ अंकित करा देता है।

क्योंकि अभिलेख उत्कीर्ण कराने का उद्देश्य सीमित होता था अतः उत्कीर्ण अभिलेखों में सम्पूर्ण सांस्कृतिक तत्वों का होना असंभव था। प्रायः राजा अपने विजयों तथा कीर्तियों को अमर करने के लिये ही अभिलेख उत्कीर्ण कराते थे। इसीलिए उनमें सम्पूर्ण सामाजिक, कलात्मक, आर्थिक, धार्मिक, दण्ड, न्याय आदि का परिचय पाना कठिन होता है। यह कठिनाई हमें अभिलेखों के अर्ध उद्देश्य के कारण ही होती है। हम इन अभिलेखों में प्रसंगवश आये संस्कृति के विभिन्न तत्वों का सग्रह कर इतिहास की संरचना कर सकते हैं या इतिहास की रचना में सहयोग प्रदान कर सकते हैं।

नाम या तिथि के अभाव में यदि अभिलेखों में पूर्वज या वंशज का नाम होता तो भी उसे पहचानने में सहायता मिलती, परन्तु कतिपय अभिलेखों में राजा और उसकी तिथि के अभाव के साथ ही साथ उसके पूर्वजों का भी उल्लेख नहीं होता है। ऐसी स्थिति में अभिलेख का समय अनिश्चित होने के कारण प्रस्तुत अभिलेख किस काल की संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर रहा है निश्चित नहीं हो पाता है।

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० २७१, २७२, २६४, २७६

द्वितीय अध्याय

गुप्त वंश का संक्षिप्त इतिहास

१. गुप्त नरेशों के अभ्युदय के पूर्व भारत की राजनैतिक स्थिति

कुषाणों के पतन के बाद उत्तरी भारत कई छोटे छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। कुषाणों की सत्ता को समाप्त करने में उसके अधीन रहने वाले अनेक छोटे-छोटे गणतन्त्रात्मक और राजतन्त्रात्मक राज्यों का योगदान था। गणतन्त्रात्मक राज्यों में मालव, आर्जुनायन, यौधेय, शिबि, लिच्छवि, कुणिन्द, आभीर, औदुम्बर, प्रार्जुन, काक, खरपरिक आदि तथा राजतन्त्रात्मक राज्यों में नागराज्य, वकाटक राज्य, मौखरि राज्य, अहिच्छत्र राज्य, अयोध्या राज्य आदि थे।

मालवः—सिकन्दर के आक्रमण के समय से ही पंजाब में ये राज्य कर रहे थे तथा कालान्तर में ये लोग पंजाब से हट कर राजपूताना में राज्य करने लगे।

आर्जुनायनः—पहले ये उत्तर पश्चिमी भारतवर्ष में राज्य करते थे परन्तु कुषाणों से पराजित होने के कारण भरतपुर और अलवर के पास शासन करने लगे थे।

यौधेयः—ये बहुधान्यक प्रदेश में रहते थे जोकि आधुनिक रोहतक प्रदेश है।

शिबिः—ये माध्यमिका (चित्तौड़) से सम्बन्धित थे।

लिच्छविः—इनका अस्तित्व गौतम बुद्ध के समय से ही वैशाली में था। जिसकी पहचान आधुनिक मुजफ्फरपुर जिले के बपाढ़ नामक स्थान से की गई है।

कुणिन्दः—ये जमुना तथा सतलुज नदियों के बीच में राज्य करते थे।

आभीर—ये गणराज्य उत्तरी सिंध तथा पंजाब के कुछ भाग पर शासन करते थे।

औदुम्बर—इनका राज्य रांची से लेकर पश्चिम के कांगड़ा तक के विस्तृत भूभाग पर था।

आर्जुन—मध्यभारत के नरसिंहपुर जिले में राज्य करते थे।

काक—यह आधुनिक सांची में राज्य करते थे।

खरपरिक—मध्यप्रदेश के दमोह जिले में खरपरिक गणराज्य शासन करते थे।

राजतन्त्रात्मक राज्यों में

नागराज्य—वर्तमान उत्तर पश्चिम मध्यप्रदेश और पश्चिम उत्तर प्रदेश में यह राज्य था।

वाकाटक राज्य—वाकाटक राज्य आधुनिक मध्यप्रदेश बुंदेलखण्ड में था।

मौखरि—इसकी राजधानी पद्मावती से लगभग २४० किलोमीटर दूर पश्चिम में बड़वा नामक स्थान पर स्थित थी।

अहिच्छत्र—इसकी तादात्मता उत्तरप्रदेश के बरेली जिले के रामनगर से की गई है।

अयोध्या—उत्तर प्रदेश के अवध क्षेत्र में है और उत्तर कोशल जनपद की राजधानी थी। डा० जायसवाल का मत है कि "कुषाणों का पतन भारशिवों के हमले से हुआ"[1] परन्तु डा० अ० स० अल्तेकर का मत है कि "कुषाण साम्राज्य को पहली चोट पहुँचाने का श्रेय वस्तुतः यौधेयों को है[2] तथा बाद में मद्र, मालव ने भी स्वाधीनता हेतु प्रयत्न किया था।" इन सभी शक्तियों को बाद में स्वतन्त्र रूप में राज्य करते पाते हैं जिनकी पुष्टि इनके अभिलेखों व मुद्राओं से होती है।

२. तत्कालीन राजनीति में गुप्तों का स्थान

उत्तरी भारत में दूसरी शती तक कुषाण साम्राज्य का अन्त हो गया था

---

१. हिस्ट्री आफ इण्डिया (काशीप्रसाद जायसवाल), पृ० ३

२. वाकाटक गुप्त युग (मजुमदार एवं अल्तेकर), पृ० १७

जिसके बाद कोई भी ऐसा शासक न हुआ जोकि इस विस्तृत भूभाग पर शासन करता हो, यही कारण है कि कुषाणों के बाद गुप्तों के उदय से पूर्व का इतिहासकाल अन्धकारयुग के नाम से जाना जाता है। अन्धकारयुग की समाप्ति गुप्तों के उदय से होती है जो बाद में एक विस्तृत भूभाग पर शासन करते दिखलाई देते हैं। चौथी सदी में गुप्त साम्राज्य की स्थापना हो जाने के पश्चात् उत्तर भारत में राज्य करने वाले सभी छोटे छोटे गणतन्त्रात्मक एवं राजतन्त्रात्मक राज्य गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित कर लिये गये।

गणतन्त्रात्मक और राजयतन्त्रात्मक राज्यों के अतिरिक्त उत्तर तथा पश्चिम भारत में कुषाणों की एक और शाखा राज्य करती दिखलाई देती है जिसे किदार कुषाण कहते हैं। गुप्तों के उदय के बाद भी किदार कुषाणों का अस्तित्व दिखलाई देता है जिसका उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति[1] में कुषाण शक्ति के रूप में मिलता है। इन लोगों ने अपनी राजधानी पेशावर को बनाया था।

गुप्तों के उदय के समय गुप्तों के अतिरिक्त उभरती हुई शक्तियों में भारशिव तथा वाकाटक भी थे। ये तीनों शक्तियां अपने साम्राज्य स्थापना के लिये प्रयत्नशील थीं किन्तु उनमें परस्पर सत्ता स्थापना के लिये युद्ध के कोई चिन्ह नहीं दिखलाई देते। ईसा से तीसरी शताब्दी के अन्तिमकाल में हम मगध सिंहासन पर गुप्तों को राज्य करते हुए पाते हैं। गुप्तों को कुछ विद्वान् ब्राह्मण, कुछ विद्वान् वैश्य तथा कुछ विद्वान् क्षत्रिय मानते है। अधिकांश विद्वान् इस मत से सहमत हैं कि गुप्त क्षत्रिय थे। इनके प्रथम नरेश और संस्थापक के रूप में हम श्रीगुप्त को पाते हैं। गुप्त शासकों के आदि स्थान के बारे में भी विद्वानों में मतभेद है। पहला मत मगध,[2] दूसरा मुर्शिदाबाद[3] तथा तीसरे मत के लोग इन्हें उत्तर प्रदेश के निवासी मानते हैं। ऐलन, आयंगर

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ४

२. पोलिटिकल हिस्ट्री (राय चौधरी) पृ० ४४३, अर्ली हिस्ट्री (स्मिथ) पृ० २९५
दि एज आफ इम्पीरियल गुप्ताज (बनर्जी) पृ० ४

३. इ० हि० क्वा० भा० २४ पृ० ५३२

तथा मुखर्जी महोदय गुप्तों का मूल निवास स्थान पाटलिपुत्र स्वीकार करते हैं। इस प्रकार अधिकांश विद्वानों का मत है कि गुप्तों के प्रारंभिक नरेश उत्तर प्रदेश से आकर मगध में बस गये और प्रारम्भ में लिच्छवियों के सामन्त रहे होंगे। लिच्छवि राजकुमारी से विवाह कर चन्द्रगुप्त प्रथम स्वतन्त्र होकर मगध में राज्य करने लगा और उसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की।

३ गुप्त वंश के संस्थापक नरेश

श्रीगुप्त एवं घटोत्कच

इस वंश का प्रथम राजा श्रीगुप्त था जिसके नाम के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है कि उसका नाम गुप्त था कि श्रीगुप्त ? परन्तु अधिकांश विद्वान् उसका नाम गुप्त ही मानते हैं और वंश का प्रथम व्यक्ति होने के कारण उसके नाम से ही वंश का नाम भी गुप्तवंश रखा गया। श्रीगुप्त का कोई स्वतन्त्र लेख नहीं मिलता। परिणामस्वरूप उसकी उपलब्धियों व जीवन चरित्र के विषय में सूचना अत्यन्त अल्प रह जाती है। इस राजा के नाम के आगे महाराज शब्द का सम्बोधन है जिसके आधार पर कतिपय विद्वान इसे सामंत मानते हैं। इसका पुत्र घटोत्कच हुआ। इसके विषय में भी जानकारी कम प्राप्त होती है। पिता की भांति इसके नाम के आगे भी महाराज शब्द का विरुद है। इसकी वैशाली के उत्खनन से कुछ मुद्रायें प्राप्त हुई हैं[1] परन्तु प्राप्त वैशाली मुद्रा के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है कि यह किस घटोत्कच की मुद्रा है।

चन्द्रगुप्त प्रथम एवं काच

गुप्तवंश का प्रभावशाली व वास्तविक संस्थापक घटोत्कच का पुत्र एवं उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त प्रथम हुआ। गुप्तवंशावली की सूची में घटोत्कच के बाद चन्द्रगुप्त प्रथम का नाम मिलता है जो महाराजाधिराज की उपाधि धारण करता था। इसके विरुद से भली भांति अनुमान किया जा सकता

---

१. गुप्त अभिलेख (डा० उपाध्याय) पृ० २३३

है कि यह स्वतन्त्र शासक था। चन्द्रगुप्त ने लिच्छवि वंश की राजकुमारी महादेवी कुमार देवी से विवाह कर अपनी राजधानी मगध को बनाया और एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। लिच्छवि वैशाली का एक अति-प्राचीन प्रजातन्त्र राज्य था। लिच्छवियों एवं गुप्तों का सम्बन्ध गुप्तों के इतिहास में एक विशेष, महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने विवाह के उपलक्ष्य में एक मुद्रा का प्रचलन किया था जिसमें एक ओर राजा तथा रानी चित्र अंकित है एवं दूसरी ओर "लिच्छवय:" अंकित है।[1] ३१९-२० ई० में उसने "गुप्त संवत्" का प्रचलन किया। चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद उसका उत्तराधिकारी कौन हुआ इस पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त का पुत्र काच उसके बाद उत्तराधिकारी हुआ, परन्तु प्रयाग प्रशस्ति[2] के चौथे श्लोक से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त ने भरे दरबार में समुद्रगुप्त की योग्यता के कारण उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था।

४. गुप्तवंश के साम्राज्यवादी नरेश

समुद्रगुप्त

चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त गद्दी पर बैठा जिसकी पुष्टि आभिलेखिक साक्ष्य से होती है।[1] समुद्रगुप्त की पट्ट-महिषी का नाम दत्तदेवी था जिससे चन्द्रगुप्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। गद्दी पर बैठने के पश्चात् समुद्रगुप्त ने साम्राज्य विस्तार, दिग्विजय नीति का अनुसरण किया और विजय प्रयाण के लिये निकला। सर्वप्रथम उसने अच्युत वा नागसेन नामक दो शासकों पर पूर्ण विजय प्राप्त किया जिसके बाद किसी कोटवंशीय राजा को पराजित किया। इन दोनों नरेशों को पराजित करने के बाद समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ को विजय किया जिसकी पुष्टि समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति से होती है। दक्षिणापथ के नरेशों के राज्यों में कोशल, महाकान्तार, केरल, पिष्ठपुर, एरण्डपल, पल्लव आदि

---

१. गुप्तकालीन मुद्रायें (अल्तेकर) पृ० २४

२. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ६

३. वही, पृ० ८. ४२, ५०

राज्य थे। इन राज्यों को जीतने के पश्चात् समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त को विजय किया। आर्यावर्त के नरेशों में उसने रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन्, आदि राजाओं को पराजित किया। इसके पश्चात् उसने आटविक, पूर्वी प्रत्यन्त राज्य तथा अनेक गणराज्यों को जीता। विदेशी शासकों ने भी समुद्रगुप्त के सामने आकर आत्मसमर्पण किया था[1] इस प्रकार अनेक दिग्विजय करने के बाद उसके दिग्विजय के परिणाम स्वरूप अश्वमेध यज्ञ का सम्पादन किया जिसकी सूचना उसके सिक्कों से मिलती है।[2] समुद्रगुप्त एक कुशल एवं नीतिज्ञ शासक था जो अनेक गुणों से सम्पन्न था। प्रयाग प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि वह संगीत, काव्य आदि विद्याओं में पारंगत था। समुद्रगुप्त के पश्चात् आभिलेखिक साक्ष्य के आधार पर उसका उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय हुआ[3] परन्तु साहित्यिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि समुद्र-गुप्त का ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त था।

रामगुप्त

समुद्रगुप्त के बाद उसका उत्तराधिकारी कौन हुआ यह विवाद का प्रश्न है। ऐरण के उत्खनन से प्रो० के० डी० बाजपेयी को रामगुप्त के कुछ सिक्के प्राप्त हुए हैं।[4] इन सिक्कों के अतिरिक्त विदिशा से कुछ जैन मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं जिनकी चौकी पर रामगुप्त का नाम उत्कीर्ण है। सिक्कों, अभि-लेखों व साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर रामगुप्त के अस्तित्व का ज्ञान होता है। परन्तु आभिलेखिक साक्षियों के आधार पर समुद्रगुप्त के बाद उसका उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय हुआ। रामगुप्त की ऐति-हासिकता सिद्ध हो जाने के कारण साहित्यों में वर्णित रामगुप्त की कायरता तथा चन्द्रगुप्त की वीरता को देखते हुए उसकी कहानी को भी सत्य मानना पड़ेगा अतः समुद्रगुप्त के बाद उसका उत्तराधिकारी रामगुप्त हुआ जिसका

---

१. का० इ० इ० भाग ३, पृ० ७-८
२. गुप्तकालीन मुद्रायें (अल्तेकर) पृ० ४३
३. का० इ० इ० भाग ३, पृ० ४३, ५०, ५३
४. जनरल आफ न्यूमिसमेटिक सोसाइटी आफ इण्डिया—जिल्द १२ पृ० १२६

वध करके उसके भाई चन्द्रगुप्त ने राज सिंहासन प्राप्त किया था। रामगुप्त के शासन काल की अन्य घटनाओं एवं राज्यारोहण के सम्बन्ध में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती है।

५. गुप्त वंश के अन्य शक्तिशाली नरेश

चन्द्रगुप्त द्वितीय

रामगुप्त के पश्चात् समुद्रगुप्त के पुत्रों में दत्तदेवी से उत्पन्न चन्द्रगुप्त द्वितीय ३७७ ई० में गद्दी पर बैठा। चन्द्रगुप्त का एक नाम देवगुप्त भी था। इनकी पत्नी का नाम ध्रुवदेवी था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अनेक वैवाहिक सम्बन्ध किए थे, जिनमें एक वैवाहिक सम्बन्ध नागराज की कन्या कुबेरनागा से किया था जिससे ही प्रभावती नामक कन्या का जन्म हुआ था। दूसरे वैवाहिक सम्बन्ध स्वरूप उसने प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय से किया था। इन दोनों वैवाहिक सम्बन्धों से चन्द्रगुप्त द्वितीय को अधिक लाभ हुआ था। कदंब राजवंश से भी कुत्सवर्म नामक नरेश की पुत्री से चन्द्रगुप्त ने विवाह किया था। अनेक वैवाहिक सम्बन्ध के अतिरिक्त इसने पश्चिमी सीमा प्रान्त के क्षत्रपों पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी। इस युद्ध के पश्चात् शकों का भारत में अंत हो गया। इस विजय के बाद चन्द्रगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी ध्रुवदेवी से उत्पन्न कुमार गुप्त प्रथम गद्दी पर बैठा। चन्द्रगुप्त का एक और पुत्र गोविन्दगुप्त भी था।

गोविन्दगुप्त

चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद उसका पुत्र गोविन्दगुप्त ध्रुवदेवी से उत्पन्न गद्दी पर बैठा, परन्तु विद्वानों में इस बात पर मतभेद है। आभिलेखिक साक्ष्यों के आधार पर वंशावली में चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद कुमारगुप्त का नाम मिलता है[1] परन्तु कतिपय विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त के जीवन काल में गोविन्द गुप्त युवराज पद पर नियुक्त था और चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् तत्काल उत्तराधिकारी बना। इसका शासन काल अल्प और

---

१. का० इ० इ० भाग ३, पृ० ४३, ५०

दो वर्ष से अधिक नहीं रहा होगा[1] सम्भवतः उसका भाई कुमार गुप्त प्रथम उसे पदच्युत कर गद्दी पर बैठा होगा।

कुमार गुप्त प्रथम

चंद्रगुप्त द्वितीय का पुत्र कुमार गुप्त प्रथम उसका उत्तराधिकारी हुआ। गुप्त संवत् ९६ अर्थात् ४१५ ई० में उसे हम गुप्त साम्राज्य पर शासन करते पाते हैं। इसके अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिससे उसकी समस्त गतिविधियों का ज्ञान प्राप्त होता है। कुमार गुप्त ने अपने पूर्वजों से प्राप्त विस्तृत साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखा। यह एक योग्य शासक था, परन्तु उसके शासन के अन्तिम दिनों में बाह्य आक्रमण के कारण गुप्त साम्राज्य की स्थिति डगमगा गई थी। इसके बाद इसका उत्तराधिकारी इनके पुत्रों घटोत्कच, पुरुगुप्त, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त तृतीय में कौन हुआ इस पर विद्वानों में मतभेद है। कतिपय विद्वान् प्रथम तीनों को ही मानते हैं और उसके बाद राज्य करने वाले राजा घटोत्कच को मानते हैं।

घटोत्कच

यह गुप्त सम्राटों का प्रत्यक्ष वंशज और कुमार गुप्त का पुत्र था। घटोत्कच अपने पिता के काल में बिहार, वैशाली एवं पूर्वी मालवा का राज्यपाल रह चुका था तथा प्रशासन सम्बन्धी अनुभवों से अच्छी तरह परिचित था। कुमार गुप्त के शासन काल के अन्तिम दिनों में पुष्यमित्रों ने आक्रमण किया था जिसे खदेड़ने के लिए स्कन्दगुप्त को राजधानी से दूर जाना पड़ा था। इसी बीच कुमार गुप्त की मृत्यु हो गई और सेना की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर घटोत्कच ने अपने को राजा घोषित कर गुप्त साम्राज्य पर अपना अधिकार कर लिया।

स्कन्दगुप्त

घटोत्कच के बाद कुमार गुप्त के पुत्र स्कन्दगुप्त ने गद्दी सम्हाली, अन्य राजकुमारों से यह अधिक योग्य और प्रतिभाशाली था। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि गुप्त वंश की राजलक्ष्मी ने उसे वरण किया था।[2] इसने हिन्दू

---

१. गुप्त साम्राज्य (डा० परमेश्वरीलाल गुप्त) पृ० ३००

२. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ५९

वध करके उसके भाई चन्द्रगुप्त ने राज सिंहासन प्राप्त किया था। रामगुप्त के शासन काल की अन्य घटनाओं एवं राज्यारोहण के सम्बन्ध में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती है।

५. गुप्त वंश के अन्य शक्तिशाली नरेश

चन्द्रगुप्त द्वितीय

रामगुप्त के पश्चात् समुद्रगुप्त के पुत्रों में दत्तदेवी से उत्पन्न चन्द्रगुप्त द्वितीय ३७७ ई० में गद्दी पर बैठा। चन्द्रगुप्त का एक नाम देवगुप्त भी था। इनकी पत्नी का नाम ध्रुवदेवी था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अनेक वैवाहिक सम्बन्ध किए थे, जिनमें एक वैवाहिक सम्बन्ध नागराज की कन्या कुवेरनागा से किया था जिससे ही प्रभावती नामक कन्या का जन्म हुआ था। दूसरे वैवाहिक सम्बन्ध स्वरूप उसने प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय से किया था। इन दोनों वैवाहिक सम्बन्धों से चन्द्रगुप्त द्वितीय को अधिक लाभ हुआ था। कदंब राजवंश से भी कुत्सवर्म नामक नरेश की पुत्री से चन्द्रगुप्त ने विवाह किया था। अनेक वैवाहिक सम्बन्ध के अतिरिक्त इसने पश्चिमी सीमा प्रान्त के क्षत्रपों पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी। इस युद्ध के पश्चात् शकों का भारत में अंत हो गया। इस विजय के वाद चन्द्रगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी ध्रुवदेवी से उत्पन्न कुमार गुप्त प्रथम गद्दी पर बैठा। चन्द्रगुप्त का एक और पुत्र गोविन्दगुप्त भी था।

गोविन्दगुप्त

चन्द्रगुप्त द्वितीय के वाद उसका पुत्र गोविन्दगुप्त ध्रुवदेवी से उत्पन्न गद्दी पर बैठा, परन्तु विद्वानों में इस वात पर मतभेद है। आभिलेखिक साक्ष्यों के आधार पर वंशावली में चन्द्रगुप्त द्वितीय के वाद कुमारगुप्त का नाम मिलता है[1] परन्तु कतिपय विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त के जीवन काल में गोविन्द गुप्त युवराज पद पर नियुक्त था और चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् तत्काल उत्तराधिकारी बना। इसका शासन काल अल्प और

१. का० इ० इ० भाग ३, पृ० ४३, ५०

दो वर्ष से अधिक नहीं रहा होगा[1] सम्भवतः उसका भाई कुमार गुप्त प्रथम उसे पदच्युत कर गद्दी पर बैठा होगा।

कुमार गुप्त प्रथम

चंद्रगुप्त द्वितीय का पुत्र कुमार गुप्त प्रथम उसका उत्तराधिकारी हुआ। गुप्त संवत् ९६ अर्थात् ४१५ ई० में उसे हम गुप्त साम्राज्य पर शासन करते पाते है। इसके अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिससे उसकी समस्त गतिविधियों का ज्ञान प्राप्त होता है। कुमार गुप्त ने अपने पूर्वजों से प्राप्त विस्तृत साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखा। यह एक योग्य शासक था, परन्तु उसके शासन के अन्तिम दिनों में बाह्य आक्रमण के कारण गुप्त साम्राज्य की स्थिति डगमगा गई थी। इसके बाद इसका उत्तराधिकारी इनके पुत्रों घटोत्कच, पुरुगुप्त, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त तृतीय में कौन हुआ इस पर विद्वानों में मतभेद है। कतिपय विद्वान् प्रथम तीनों को ही मानते हैं और उसके बाद राज्य करने वाले राजा घटोत्कच को मानते हैं।

घटोत्कच

यह गुप्त सम्राटों का प्रत्यक्ष वंशज और कुमार गुप्त का पुत्र था। घटोत्कच अपने पिता के काल में बिहार, वैशाली एवं पूर्वी मालवा का राज्यपाल रह चुका था तथा प्रशासन सम्बन्धी अनुभवों से अच्छी तरह परिचित था। कुमार गुप्त के शासन काल के अन्तिम दिनों में पुष्यमित्रों ने आक्रमण किया था जिसे खदेड़ने के लिए स्कन्दगुप्त को राजधानी से दूर जाना पड़ा था। इसी बीच कुमार गुप्त की मृत्यु हो गई और सेना की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर घटोत्कच ने अपने को राजा घोषित कर गुप्त साम्राज्य पर अपना अधिकार कर लिया।

स्कन्दगुप्त

घटोत्कच के बाद कुमार गुप्त के पुत्र स्कन्दगुप्त ने गद्दी सम्हाली, अन्य राजकुमारों से यह अधिक योग्य और प्रतिभाशाली था। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि गुप्त वंश की राजलक्ष्मी ने उसे वरण किया था।[2] इसने हिन्दू

---

१. गुप्त साम्राज्य (डा० परमेश्वरीलाल गुप्त) पृ० ३००

२. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ५९

संस्कृति के नाशक विधर्मी हूणों को परास्त किया था। अपने साम्राज्य के पश्चिम भाग पर स्थित सौराष्ट्र में पर्णदत्त को राज्यपाल नियुक्त किया था। इसने अपनी राजनीतिक सफलताओं से गुप्त साम्राज्य की नींव को मजबूत रखा तथा लोक हित कार्य किया। इसी के काल में सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार किया गया। स्कन्द गुप्त के बाद आन्तरिक दुर्बलताओं और बाहरी आक्रमणों से गुप्तों की शक्ति क्षीण होने लगी थी। इसके शासन के अन्तिम दिनों में हूणों ने आक्रमण किया था।

पतनोन्मुख गुप्त नरेश

पुरुगुप्त

स्कन्दगुप्त के बाद उसका उत्तराधिकारी कौन हुआ इस पर विद्वानों में मतभेद है। कतिपय विद्वानों का मत है कि इसका सौतेला भाई पुरु गुप्त लगभग (वृद्धावस्था में ४६७ ई० में) राजसिंहासन पर बैठा। इसके विपरीत विद्वानों का एक दूसरा वर्ग यह मत व्यक्त करते हैं कि पुरुगुप्त और स्कन्दगुप्त ने गुप्त साम्राज्य का विभाजन कर राज्य किया था। परन्तु यह मत उचित नहीं प्रतीत होता। पुरुगुप्त के काल में उसका चाचा गोविंद गुप्त मालवा में स्वतन्त्र हो गया था और दूर के प्रांतों में असंतोष तथा स्वतन्त्र होने की भावना दिखाई पड़ रही थी। ४६८ ई० के लगभग पुरुगुप्त के शासन का अन्त हो गया। इसने प्रकाशादित्य की उपाधि धारण की थी।

कुमार गुप्त द्वितीय

पुरुगुप्त की मृत्यु के उपरान्त कुमारगुप्त द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। इसका एक सारनाथ लेख प्राप्त हुआ है।[1] इस सारनाथ के लेख में हमें वंशावली नहीं प्राप्त होती है। इसमें ३७३ ई० अंकित है। विद्वानों का अनुमान है कि यह स्कन्दगुप्त या पुरुगुप्त का पुत्र रहा होगा। इसके काल में महा-हस्तिन् के सामंत परिवार ने पर्याप्त शक्ति संचित कर ली थी और गुप्तों का नियन्त्रण सामन्तों के भूभाग पर शिथिल होने लगा था। ४७७ ई० में हम बुध गुप्त को राज्य करते हुए पाते हैं।

---

१. गुप्त अभिलेख (डा० उपाध्याय) पृ० १६८

बुधगुप्त

यह कुमार गुप्त के बाद गद्दी पर बैठा। बुध गुप्त पुरु गुप्त का पुत्र था। इसके काल में हम पतनोन्मुख गुप्त वंश को कुछ शक्ति संचित करते पाते हैं। मालवा से लेकर बंगाल तक के विस्तृत भूभाग का यह स्वामी रहा क्योंकि इसके अभिलेख इन क्षेत्रों में प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार यह गुप्तों की समृद्धि का कुछ सीमा तक पुनरुद्धारक हुआ। इसके बाद गुप्तवंश का उत्तराधिकारी कौन हुआ इस पर विद्वानों में मतभेद है। कतिपय विद्वान् इसके अनुज नरसिंहगुप्त को मानते हैं। विद्वानो का दूसरा वर्ग भानुगुप्त बालादित्य को इसका उत्तराधिकारी मानता है। चीनो अनुसूचियों के अनुसार बुधगुप्त तथा भानुगुप्त के बीच तथागत गुप्त हुआ था। भानुगुप्त और बुधगुप्त के सम्बन्ध के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। भानुगुप्त के बाद चन्द्रदेवी से उत्पन्न पुरु गुप्त का पुत्र सिंहगुप्त गद्दी पर बैठा। यह बुधगुप्त क भाई था। संभवत: इसकी सिंहासनारूढ़ होने की तिथि गुप्त संवत् १८९-९० थी। नरसिंहगुप्त का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कुमार गुप्त तृतीय महादेवी मित्रदेवी से उत्पन्न गद्दी पर बैठा। यह नरेश धर्मनिष्ठावान् था जो यशोधर्मन् से युद्ध करते हुए युद्ध क्षेत्र में वीर गति को प्राप्त हुआ। कुमारगुप्त तृतीय का पुत्र विष्णुगुप्त अवनति काल का नरेश था जिसके सिंहासनारूढ़ होने की तिथि के बारे में निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता और न ही इसके शासन की अंतिम तिथि के बारे में कोई जानकारी प्राप्त होती है। आभिलेखक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि विष्णुगुप्त वंश का अंतिम सम्राट् था और इसके बाद गुप्त वंश समाप्त हो गया।

७. गुप्त राजनीति पर धर्म का प्रभाव

गुप्तों का शासन भारतीय संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट विकास काल था। वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित राजनीति के कर्णधार स्वरूप गुप्त नरेशों को समय समय पर संस्कृतिप्राण महाकवियों, उपदेशकों एवं शास्त्रकारों से प्रेरणा मिल रही थी। यही कारण है कि ऐसा एक भी उदाहरण उस समय में नहीं मिलता है जो धर्मविरुद्ध या धर्मद्वेषी हो।

चन्द्रगुप्त द्वितीय[1] विक्रमादित्य के शासनकाल में महाकवि कालिदास

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास (बलदेव उपाध्याय) पृ० १७८-७९

जैसे विश्वकविरत्न विद्यमान थे, जिन्होंने अपनी ललित एवं मधुर पदावलियों द्वारा भारतीय धर्म एवं संस्कृति के उदात्त पक्ष को देश-विदेश के कण-कण में बिखेरा। गुप्तों की धार्मिकता का ही फल था कि महाकवि कालिदास जैसे नव कविरत्नों को रत्न माना गया और समुचित समादर प्राप्त हुआ तथा धर्म का, धर्म भाषा का उत्तरोत्तर परिपल्लवन हुआ। कालिदास ने अपने नाटकों एवं महाकाव्यों में राजाओं के उच्च गुणों को चित्रित किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् (दुष्यन्त), विक्रमोर्वशीयम् (पुरूरवा), मालविकाग्निमित्र (अग्निमित्र), रघुवंशम् (दिलीप, रघु आदि सूर्यवंशी राजा गण) आदि में एक आदर्श धार्मिक शिरोमणि उदार तथा गुणी राजा का आदर्श स्वरूप चित्रित मिलता है जिसका मुख्य उद्देश्य था कि गुप्त नरेश भी उसी मार्ग के आदर्श राजा बनें।

परिणामतः कालिदास का उद्देश्य पूर्ण हुआ। सारे गुप्त नरेश दिलीप की तरह वीर[1] रघु की तरह दिग्विजयी,[2] एवं अश्वमेध[3]—यज्ञकर्ता तथा दानी एवं दुष्यन्त की तरह अद्भुत प्रजा प्रेमी शासक सिद्ध हुए।[4] अभिलेखों का एक एक अक्षर उक्त बातों की दुहाई देने में सक्षम है।

रघुवंश में कालिदास ने कहा है :

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्
स एव धर्मो मनुना प्रणीतः[5]

अर्थात् मनु ने कहा है कि, "एक आदर्श राजा का परम कर्त्तव्य है कि वह शासन क्षेत्र की प्रजाओं में वर्णाश्रम व्यवस्था का पालन सावधानी से करे, कराये। इस वाक्य को गुप्तों ने मूल मन्त्र माना तथा सभी प्रजाओं में इसका व्यापक प्रभाव भी पड़ा और वर्णाश्रम व्यवस्था का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित हुआ। यही कारण है कि लोगों में ऊँच नीच का भेद नहीं था। शैव, वैष्णव, शाक्त, जैन बौद्ध सभी में मानसिक सद्भाव था, द्वेष का लेश भी न था।

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ६, ५६, १४१
२. वही पृ० ७-८, १४१, ५६
३. गुप्तकालीन मुद्रायें (अल्तेकर) पृ० ४६, ४८, १४१, १८८
४. शाकुन्तल १-२५, ५-५, ६-७, ६-२३
५. रघुवंश महाकाव्य १६, ६७

धर्म का दूसरा प्रभाव यह भी हुआ कि लोगों को धार्मिक ग्रन्थों की व्याख्या करने, रचना करने एवं प्रसार प्रचार करने का मौका मिला। विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों पर आश्रित धर्म-ग्रन्थों, वाङ्मयों तथा दार्शनिक रचनाओं का पुस्तकालय ही सामने खड़ा हो गया जिसकी ज्ञानज्योति तब तक फैलती रहेगी जब तक गंगा यमुना की तरंगें मुखरित होती रहेंगी। किसी ने ठीक ही कहा है :—

"धर्मेण शासिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते"।

अर्थात् धर्म पूर्वक शासित राष्ट्र में ही शास्त्रों का चिंतन-मनन निर्विघ्न रूप से चल सकता है।

धर्म का व्यापक प्रभाव उस समय भी स्पष्टतया दिख पड़ता है जबकि शकों, हूणों की प्रच्छन्न नीति से गुप्त गगन पर विपत्ति जलद मंडरा रहे थे। लोगों में देश धर्म की सबक व्याप्त थी। अपनी संस्कृति तथा धर्म का सहारा लेकर धर्म रक्षा के लिये गुप्त नरेशों ने युद्ध क्षेत्र में प्रवेश किया तथा शत्रुओं की दाल न गलने दी। फलतः भारत उस समय परतन्त्र न हो सका। धर्म पर आस्था रूढ़ होने के कारण ही राजाओं ने प्रजा को धार्मिक बनाया तथा युद्ध में लड़ते लड़ते निधन हो जाने को "वीर गति या स्वर्ग गति" कहा "हतो वा मोक्ष्यसे स्वर्गम्"। फलतः वीर एवं साहसी राजाओं के साथ ही प्रजाओं, सैनिकों, सेनापतियों ने युद्ध कौशल दिखलाये और समुद्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त की गगन पताका गगन तल को चूमने लगी। उनकी कीर्ति-चांदनी को फैलने के लिये भूमण्डल कम मालूम होने लगा। स्वर्ग के खुले प्रांगण में गुप्त कीर्ति का स्वागत किया।[1]

यथा राजा तथा प्रजा का जितना प्रायोगिक रूप गुप्त काल में दिख पड़ता है उतना अन्यत्र नहीं। राजाओं की धर्मप्रियता के कारण धर्मानुराग बढ़ा। मन्त्रिमण्डल में आस्था, सद्भाव, निष्कपटता की जड़ें जमीं, जो सफल शासन के अनिवार्य लक्षण हैं।[2] गांव-गांव में पर्वत की चोटियों में जंगल की गुफाओं

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ११

२. का० इ० इ०, पृ० २१, ३४ आदि

तथा नगर के गगनचुम्वी प्रासादों में मन्दिर प्रतिष्ठित हुए।[1] कानों में मन्दिरों के घंटानाद मानो गुप्त नरेशों के कीतिगान के पद्य पढ़ रहे थे।

ऐसा शासन शायद ही विश्व में रहा हो जहाँ विभिन्न धर्म एवं सम्प्रदाय एक ही समय में, एक साथ, समान सम्मान में, शासकीय संरक्षण के बीच विकसित एवं परिपल्लवित हुए हों। यह गुप्त राजनीति पर धर्म की छाया की जबर्दस्त ज्योति है। शैवों के मठों के पास में, वैष्णवों के विहार के पास ही जैनों की कुटिया का शायद प्रथम एवं अन्तिम वार निश्छल दर्शन गुप्त काल में ही होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त राजनीति पर धर्म का व्यापक प्रभाव पड़ा जो लाभकारी सिद्ध हुआ। धर्म का प्रभाव राजनीति पर अशोक के काल में भी पड़ा था। परन्तु उसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ जो आगे चलकर मौर्य वंश के पतन का कारण बनी परन्तु गुप्तों के काल में इसके विपरीत ही प्रभाव परिलक्षित होते हैं।

---

१. वही, पृ० ५४, २६८, ६१, ७६

तृतीय अध्याय

धर्म का स्वरूप

१. धर्म का महत्त्व

गुप्तों के धर्म के सम्यक् ज्ञान के लिए धर्म के स्वरूप को समझना परम आवश्यक है। प्राचीन भारतीय जीवन में धर्म की व्यापकता पर दृष्टिपात करते हुए विद्वानों का कहना है कि धर्म भारतीय जीवन की धुरी है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीयों के समस्त क्रिया कलाप धर्म से नियंत्रित एवं संरक्षित रहे हैं। कोई भी कार्य जबतक धर्म के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जाता था, समाज में उसकी मान्यता अथवा प्रतिष्ठा असंभव थी। राज्याभिषेक तथा दिग्विजय जैसे राजनीतिक कार्यों के लिये भी राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ की आवश्यकता अनिवार्य समझी गई। इसी प्रकार समाज, साहित्य, कला आदि को भी समाज में प्रतिष्ठित होने के लिये धर्म की शरण लेनी पड़ी। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति में धर्म का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

भारतीय संस्कृति में धर्म को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान मिलने पर भी अपने अर्थ की व्यापकता के कारण उसकी कोई एक निश्चित और सर्वमान्य परिभाषा प्राप्त नहीं होती। प्राप्त हो भी कैसे सकती है? जो व्यापक वह परिभाषित हो कर निश्चित, सीमित—ससीम होकर समाप्त नहीं होना चाहेगा। परिभाषित व निश्चित होने पर उसकी व्यापकता ही समाप्त हो जाती है। इसीलिये धर्म के अर्थ की व्यापकता के कारण ही भिन्न-भिन्न प्राचीन भारतीय विद्वानों ने भिन्न-भिन्न काल में धर्म की भिन्न-भिन्न परिभाषायें की हैं।

२. धर्म शब्द का अर्थ एवं परिभाषा

धर्म शब्द 'धृ' धातु में (धारण करना) मन् प्रत्यय जोड़ने से बनता है जिसका अर्थ धारण करने वाला होता है। धरति लोकान् ध्रियते पुण्यात्मभिरिति वा—वह शुभ दृष्टि, पुण्य, श्रेय, सुकृत, सत्कर्म, कल्याणकारी कर्म, सदाचार, वह आचरण तथा प्रकृति जिससे जाति या समाज की रक्षा और शुभ शांति की वृद्धि हो तथा परलोक में अच्छी गति मिल सके वही धर्म है। इस प्रकार धर्म उन शाश्वत सिद्धांतों के समुदाय को कह सकते हैं जिसके द्वारा यह मानव समाज सन्मार्ग में प्रवृत्त होकर उन्नतिशील बन कर अपने अस्तित्व को धारण करता है। पूर्वमीमांसाकार जैमिनि धर्म की व्याख्या करते हुए इस प्रकार कहते हैं :—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः

जिससे अभ्युदय या निःश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है। अभ्युदय से लौकिक व निःश्रेयस से पारलौकिक उन्नति व कल्याण का बोध होता है। जीवन के ऐहिक व पारलौकिक दोनों पहलुओं से धर्म को संबंधित किया गया था। धर्म वही हो सकता है जिससे मानव जाति प्रकृति प्रदत्त शक्तियों के विकास से अपना ऐहिक जीवन सुखी बना सके, साथ ही मृत्यु के पश्चात् भी जन्म मरण की झंझटों में न पड़ कर जीवात्मा शांति व सुख का अनुभव कर सके। इस प्रकार भारतीय लौकिक धारणाओं के बीच अबाध गति से बहने वाली कर्तव्य की धारा ही धर्म है। धर्म की इससे अधिक उदार परिभाषा दूसरी क्या हो सकती है।

ऋग्वेद में धर्म शब्द का व्योहार करते हुए कहा गया है[1] कि परमेश्वर ने आकाश में त्रिपाद परिमित स्थान में त्रिलोक निर्माण कर उनके धर्मों को धारण किया है। यहाँ धर्म शब्द का अर्थ जगत् निर्वाहक नियमों का समूह है। अंग्रेजी में 'ला' कहने से जिस अर्थ का बोध होता है यहाँ धर्म शब्द का अर्थ वही रूप है। अथर्व वेद[1] में धर्म का अर्थ बताते हुए कहा गया है कि सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ इन्हीं पर पृथ्वी स्थिर है—यही धर्म है। मीमांसाकार जैमिनि का कहना है कि---चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः—

---

१. ऋग्वेद १.२२ १८ त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः

चोदना के द्वारा लक्षित अर्थ धर्म कहलाता है। शब्दान्तर में आचार्य की आज्ञानुसार यज्ञादि करना धर्म है या आचार्य द्वारा प्रेरित होकर यागादि करना ही धर्म है। विष्णुसंहिताकार के शब्दों में क्षमा, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रियनिग्रह अहिंसा, गुरुशुश्रूषा, तीर्थानुसरण, दया, आर्जव, लोभ-शून्यता, देवता तथा ब्राह्मणों का पूजन एवं असूया धर्म कहलाते हैं।[२] मनु धर्म के दस लक्षण बताते हुए एक स्थान पर कहते हैं कि धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध ये दश धर्म के लक्षण है।[३] इनका अनुसरण करते हुए मनुष्य परम गति को प्राप्त करता है। अन्यत्र मनुस्मृति के दूसरे अध्याय में मनु द्वारा कहा गया है कि—राग द्वेष परिशून्य विद्वान् सज्जनगण समाज में जिन नियमों का पालन करे उसी को धर्म कहते हैं। पद्मपुराण में धर्म के दश लक्षणों के स्थान पर धर्म के दंश अंग बताये हैं, वे अंग हैं ब्रह्मचर्य, सत्य, तपस्या, दान, नियम, क्षमा, शौच, अहिंसा शान्ति।[४] मत्स्यपुराण के अनुसार—अद्रोह, अलोभ, दम, जीवों के प्रति दया, ब्रह्मचर्य, सत्य, अनुकोप, क्षमा और धृति ये सनातन धर्म के कर्तव्य हैं तथा श्राद्ध कर्म, व्रत स्नान, दान, पूजा, हवन जप आदि, अक्रोध, सदा स्वकीय पत्नी में संतोष, विशुद्धता, विद्या, असूया साहित्य कालज्ञान और तितिक्षा—ये साधारण धर्म हैं। इसी प्रकार ग्रन्थों में विशेष धर्मों का भी वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदि। इस प्रकार साधारण, सामान्य तथा विशेष धर्मों के साथ साथ धर्म शब्द की परिभाषा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भिन्न भिन्न की गई है। ये समस्त परि-

---

१. अथर्ववेद १२।१।१

२. क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः। अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुशरणं दया॥ आर्जवं क्षोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम्। अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्चते॥

३. धृतिः क्षमा दमो स्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

४. ब्रह्मचर्येण, सत्येन, तपसा सम्प्रवर्तते, ज्ञानेन नियमेनापि क्षमाशौचेन वल्लभ। अहिंसया सुशांत्या च अस्तेयेनापि वर्द्धते एतैः दशभि रङ्गैस्तु धर्ममेव प्रसूचयेत्॥

भाषाएँ धर्म के कतिपय स्वरूप को ही स्पष्ट कर पा रही हैं क्योंकि धर्म तत्त्व अत्यन्त गूढ़ है—"धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्" ।

३. धर्म और रिलिजन

संस्कृत की 'धृ' धातु से बने हुए धर्म शब्द का अर्थ है—जो धारण करे या जो सबको धारण करे। इस प्रकार धर्म शब्द बहुत व्यापक हो जाता है। इसका ठीक ठीक भाषान्तर में पर्याय मिलना कठिन है। फिर भी लोगों ने भाषान्तर में धर्म का पर्याय ढूंढने का प्रयास किया है। धर्म को अंग्रेजी में रिलिजन कहा गया है। रिलिजन लेटिन भाषा का शब्द है। इसका अर्थ होता है फिर से बांधना या संबंध जोड़ना।

शब्दकोष के अनुसार रिलिजन शब्द से विभिन्न जाति, विभिन्न ईश्वरोपासना प्रणाली का बोध होता है। संस्कृत में ईश्वरोपासना प्रणाली आचार शब्द के अन्तर्गत है। सुतरां धर्म शब्द से आचार का बोध कराते हुए क्रमशः अर्थ संकुचित होकर आचार के विभिन्नांश भी धर्म के नाम से कहे जाने लगे। ऐसी दशा में रिलिजन शब्द का अर्थ धर्म शब्द में प्रविष्ट हो गया। रिलिजन शब्द का अर्थ हूबहू पर्यायवाची हिन्दी संस्कृत भाषा में न होने के कारण बहुत कुछ नैकटय विशिष्ट होने से क्रमशः धर्म शब्द ही बहुत व्यवहृत होने लगा।

परन्तु धर्म और रिलिजन शब्द में बहुत अन्तर है। रिलिजन कहने से पारलौकिक विश्वास, ऐश्वरिक विश्वास, विभिन्न उपासना प्रणाली और तत्सृष्ट उत्सव, उपवास, प्रायश्चित्त आदि का जो एकीभूत भाव हृदय में उदित होता है धर्म शब्द के आचारार्थ से भी समस्त भावों का आभास पाया जाता है। किन्तु रिलिजन देशादि के भेद से सत्य या मिथ्या हो सकता है परन्तु धर्म शब्द में किसी प्रकार भी यह भाव प्रकट नहीं होता। ईश्वरोपासना प्रणाली एक सत्य हो और एक मिथ्या, यह हो नहीं सकता। क्योंकि धर्म का अर्थ धारण करने या आचार करने से लगाने पर जो आचार मेरे लिये ग्राह्य एवं आदरणीय है वह दूसरे के लिये अग्राह्य और अनादरणीय हो सकते हैं किन्तु मिथ्या नहीं हो सकते। मेरा रिलिजन सत्य है, दूसरे का मिथ्या हैं ऐसा कहा जा सकता है किन्तु मेरा धर्म सत्य है दूसरे का धर्म मिथ्या है

ऐसा नहीं कहा जा सकता। धर्म शब्द में ऐसा भाव कुछ भी नहीं है, धर्म एक है, बहुत नहीं किन्तु रिलिजन कभी भी एक नहीं हो सकता।

पंथ या पंथा: शब्द का अर्थ भी उपासना प्रणाली ही है।[1] सूक्ष्म रूप से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि रिलिजन शब्द पंथ या पंथा शब्द के समान है। गीता के वर्त्म[2] शब्द को यदि पंथा कहा जाय तो कोई हानि नहीं है। रिलिजन और धर्म में जितना भेद है उतना ही इस श्लोक के धर्म और पंथ में भेद ज्ञात होता है। इस श्लोक से ज्ञात होता है कि धर्म तत्त्व ज्ञात नहीं है। कौन सा धर्म आदरणीय है इसका निर्णय करना भी असंभव है किन्तु महाजन जिस पंथ पर चल कर उसे दूसरों को निर्देश कर गये हैं, वह अपेक्षाकृत सुपरिज्ञात है, मानो इशारे से ही उसे अवलम्बन करने को कहा जा रहा है। अब यह निर्णय करना चाहिए कि उक्त श्लोक मे कहे गये महाजन कौन है? हिन्दुओं की समझ में ये ऋषि ही हैं। सुतराम् ऋषि महाजन जिस मार्ग पर चलते हैं यही पंथ है। इसीलिये ईसामसीह, मुहम्मद, बुद्ध, जरस्तुस्त्र आदि को महाजन मान लिया जाय तो कोई हानि नहीं क्योंकि जिस प्रकार धर्म तत्त्व को अबोध्य समझ कर उसके उद्धार के लिये ऋषिगण विभिन्न पंथ बतला गये इसी प्रकार ईसामसीह मुहम्मद आदि भी उसी धर्म तत्त्व के निरूपण के लिये एक एक पंथ को निर्देश कर गये हैं। इस प्रकार विवेचन करके इस पंथा शब्द को यदि अंग्रेजी का रिलिजन शब्द, हिन्दी या संस्कृत भाषा का पर्यायवाची मान लिया जाय तो संभवत: कोई हानि नहीं होगी। हिन्दी भाषा में भी पंथ शब्द का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ कबीरपंथी, नानकपंथी, नाथपंथी आदि। इसी प्रकार मुसलमानों को भी मुहम्मद पंथी, ईसाइयों को ख्रिष्टपंथी, बौद्धों को बुद्धपंथी आदि कहा जा सकता हैं। इससे कोई हानि होने की संभावना नहीं है। संस्कृत में जैसे पंथा: शब्द गमनार्थ का सूचक है इसी प्रकार अरबी में कर्माचार बोधक मजहब शब्द 'जहब' इस गमनार्थक धातु से ही निकला है। इससे भी यह प्रकट होता है कि मजहब और पंथाः एक भावात्मक शब्द है तथा मुसलमान लोग मजहब शब्द द्वारा

---

१. वेदा विभिन्ना: स्मृतयो विभिन्ना नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गत: स पन्था:।

२. ये यथामां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते लोकेस्मिन् पार्थ सर्वश:॥

भाषाएँ धर्म के कतिपय स्वरूप को ही स्पष्ट कर पा रही हैं क्योंकि धर्म तत्त्व अत्यन्त गूढ़ है—"धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्" ।

३. धर्म और रिलिजन

संस्कृत की 'धृ' धातु से बने हुए धर्म शब्द का अर्थ है—जो धारण करे या जो सबको धारण करे। इस प्रकार धर्म शब्द बहुत व्यापक हो जाता है। इसका ठीक ठीक भाषान्तर में पर्याय मिलना कठिन है। फिर भी लोगों ने भाषान्तर में धर्म का पर्याय ढूंढने का प्रयास किया है। धर्म को अंग्रेजी में रिलिजन कहा गया है। रिलिजन लेटिन भाषा का शब्द है। इसका अर्थ होता है फिर से बांधना या संबंध जोड़ना ।

शब्दकोष के अनुसार रिलिजन शब्द से विभिन्न जाति, विभिन्न ईश्वरोपासना प्रणाली का बोध होता है। संस्कृत में ईश्वरोपासना प्रणाली आचार शब्द के अन्तर्गत है। सुतरां धर्म शब्द से आचार का बोध कराते हुए क्रमशः अर्थ संकुचित होकर आचार के विभिन्नांश भी धर्म के नाम से कहे जाने लगे। ऐसी दशा में रिलिजन शब्द का अर्थ धर्म शब्द में प्रविष्ट हो गया। रिलिजन शब्द का अर्थ हूबहू पर्यायवाची हिन्दी संस्कृत भाषा में न होने के कारण बहुत कुछ नैकट्य विशिष्ट होने से क्रमशः धर्म शब्द ही बहुत व्यवहृत होने लगा ।

परन्तु धर्म और रिलिजन शब्द में बहुत अन्तर है। रिलिजन कहने से पारलौकिक विश्वास, ऐश्वरिक विश्वास, विभिन्न उपासना प्रणाली और तत्सृष्ट उत्सव, उपवास, प्रायश्चित्त आदि का जो एकीभूत भाव हृदय में उदित होता है धर्म शब्द के आचारार्थ से भी समस्त भावों का आभास पाया जाता है। किन्तु रिलिजन देशादि के भेद से सत्य या मिथ्या हो सकता है परन्तु धर्म शब्द में किसी प्रकार भी यह भाव प्रकट नहीं होता। ईश्वरोपासना प्रणाली एक सत्य हो और एक मिथ्या, यह हो नहीं सकता। क्योंकि धर्म का अर्थ धारण करने या आचार करने से लगाने पर जो आचार मेरे लिये ग्राह्य एवं आदरणीय है वह दूसरे के लिये अग्राह्य और अनादरणीय हो सकते हैं किन्तु मिथ्या नहीं हो सकते। मेरा रिलिजन सत्य है, दूसरे का मिथ्या हैं ऐसा कहा जा सकता है किन्तु मेरा धर्म सत्य है दूसरे का धर्म मिथ्या है

ऐसा नहीं कहा जा सकता। धर्म शब्द में ऐसा भाव कुछ भी नहीं है, धर्म एक है, बहुत नहीं किन्तु रिलिजन कभी भी एक नहीं हो सकता।

पंथ या पंथा: शब्द का अर्थ भी उपासना प्रणाली ही है।[1] सूक्ष्म रूप से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि रिलिजन शब्द पंथ या पंथा शब्द के समान है। गीता के वर्त्म[2] शब्द को यदि पंथा कहा जाय तो कोई हानि नहीं है। रिलिजन और धर्म में जितना भेद है उतना ही इस श्लोक के धर्म और पंथ में भेद ज्ञात होता है। इस श्लोक से ज्ञात होता है कि धर्म तत्त्व ज्ञात नहीं है। कौन सा धर्म आदरणीय है इसका निर्णय करना भी असंभव है किन्तु महाजन जिस पंथ पर चल कर उसे दूसरों को निर्देश कर गये हैं, वह अपेक्षाकृत सुपरिज्ञात है, मानो इशारे से ही उसे अवलम्बन करने को कहा जा रहा है। अब यह निर्णय करना चाहिए कि उक्त श्लोक मे कहे गये महाजन कौन है? हिन्दुओं की समझ में ये ऋषि ही है। सुतराम् ऋषि महाजन जिस मार्ग पर चलते हैं यही पंथ है। इसीलिये ईसामसीह, मुहम्मद, बुद्ध, जरस्तुस्त्र आदि को महाजन मान लिया जाय तो कोई हानि नहीं क्योंकि जिस प्रकार धर्म तत्त्व को अबोध्य समझ कर उसके उद्धार के लिये ऋषिगण विभिन्न पथ बतला गये इसी प्रकार ईसामसीह मुहम्मद आदि भी उसी धर्म तत्त्व के निरूपण के लिये एक एक पंथ को निर्देश कर गये हैं। इस प्रकार विवेचन करके इस पंथा शब्द को यदि अंग्रेजी का रिलिजन शब्द, हिन्दी या संस्कृत भाषा का पर्यायवाची मान लिया जाय तो संभवतः कोई हानि नहीं होगी। हिन्दी भाषा में भी पंथ शब्द का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ कबीरपंथी, नानकपंथी, नाथपंथी आदि। इसी प्रकार मुसलमानों को भी मुहम्मद पंथी, ईसाइयों को ख्रिष्टपंथी, बौद्धों को बुद्धपंथी आदि कहा जा सकता हैं। इससे कोई हानि होने की संभावना नहीं है। संस्कृत में जैसे पंथा: शब्द गमनार्थ का सूचक है इसी प्रकार अरबों में कर्माचार बोधक मजहब शब्द 'जहब' इस गमनार्थक धातु से ही निकला है। इससे भी यह प्रकट होता है कि मजहब और पंथा: एक भावात्मक शब्द है तथा मुसलमान लोग मजहब शब्द द्वारा

---

१. वेदा विभिन्ना: स्मृतयो विभिन्ना नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।

२. ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते लोकेस्मिन् पार्थ सर्वशः॥

रिलिजन शब्द को प्रकट करते है परन्तु जब तक इस नवीन अर्थ में रिलिजन शब्द का बहुत व्यवहार न होगा तब तक रिलिजन का हिन्दी अनुवाद धर्म ही करते चले जायेंगे ।

४. क्या धर्म बिना ईश्वर के संभव है ?

संसार के सभी धर्मों में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर उसे महान् अदृश्य शक्ति माना है । सभी धर्म ईश्वर को सर्वव्यापी और अंतर्यामी मानते हैं । हिन्दू धर्म भी इस मत का अपवाद नही है । ईश्वर प्राणिमात्र के भीतर निवास करता है और सबकी सुनता है इस विश्वास में ही संसार ने किसी भी वस्तु को प्राप्त करने की पद्धति ढूंढ निकाली है । इसे समझाने के लिये पूजा, अर्चना और विविध संध्योपासना की प्रक्रियाएं भी प्रयुक्त की जाती हैं, जिनके द्वारा किस मूर्ति के भीतर ईश्वर का आह्वान किया जाता है । ईश्वर की मूर्ति पत्थर की हो या काष्ठ की अथवा केवल मुट्ठी भर घास ही सगुणोपासना के लिये पर्याप्त है ।

परन्तु हिन्दू धर्म में ईश्वर का अस्तित्व हो यह कोई आवश्यक नहीं है क्योंकि हिन्दू धर्म इस तथ्य पर अधिक ध्यान देता है कि हमारा जीवन सदाचारमय हो । जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य किस प्रकार सदाचार व्रत का पालन करे, धर्म इसका निर्देश करता है । भौतिक सुखों अथवा आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करने में मनुष्य को धर्म की मर्यादा में अटूट विश्वास रखना चाहिए । लगता है कि इसी बात को ध्यान में रख कर वैशेषिककार ने धर्म की परिभाषा की है जिसमें ईश्वर की सत्ता की चर्चा लेशमात्र भी नहीं की गई—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसिद्धिः स धर्मः । इसके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में जहाँ भी धर्म की परिभाषा की गई है उसमें सदाचार, संयम नियमादि को प्रमुखता दी गई है । ईश्वर की चर्चा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नहीं की गई है । इस प्रकार भारतीय धर्म के लिये ईश्वर कोई आवश्यक एवं अनिवार्य वस्तु नहीं । ईश्वर के बिना भी भारतीय धर्म के स्वरूप आदि में कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि धर्म हमारे लिये आत्मसंयम के विधेयात्मक और निषेधात्मक सभी अंगों का विवेचन करता है ।

ईश्वरोपासना के लिये हम विभिन्न पद्धतियों का आश्रय लेते हैं। परन्तु ये विभिन्न पद्धतियां धर्म नहीं हो सकती क्योंकि धर्म सर्वकालिक, सर्वस्थानिक तथा सार्वजनिक होते है। वैयक्तिक, एकदेशिक, एककालिक नहीं होते। ये पद्धतियां धर्म नहीं, सम्प्रदाय कहलाती है। सम्प्रदाय को धर्म कहना धर्म को संकीर्ण बनाना है। सम्प्रदाय का उद्देश्य श्रेष्ठ अथवा ईश्वर को, चाहे सुखमय मार्ग द्वारा हो, चाहे दुःखमय मार्ग द्वारा, पाना है। जबकि धर्म का उद्देश्य अभ्युदय तथा नि.श्रेयस की प्राप्ति है। इस प्रकार धर्म ईश्वर के बिना भी रह सकता है।

५. धर्म और दर्शन

पाश्चात्य जगत् में धर्म तथा दर्शन में पारस्परिक संबंध का अभाव परिलक्षित होता है परन्तु भारतवर्ष में दर्शन तथा धर्म में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दर्शन शास्त्र के द्वारा सुचिंतित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा है क्योंकि जैसा हम विचार करते हैं उसी के अनुसार आचरण करने का भी प्रयास करते हैं। धार्मिक आचार के बिना परिपुष्ट हुए धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है। इन दोनों में सामंजस्य जितना इस भारत में हुआ है उतना अन्य किसी देश में नहीं।

भारत में जीव, जगत् एवं जगदीश्वर को जानने तथा साक्षात्कार करने को हम दर्शन कहते हैं। धर्म अथवा रिलिजन इसके लिये मार्ग प्रशस्त करता है। इसी तथ्य को दृष्टिकोण में रख कर ही प्रो० म्यूरहेड का कहना है कि दार्शनिक तथा सात्त्विक खोजों के लिये धर्मशास्त्र अधिक से अधिक एक काव्य तथा एक स्वप्न है। यही कारण है कि डा० फ्लीट धर्म में परम तत्त्व को स्वीकार करते हुए कहते हैं यह मनुष्य का किसी शक्ति अथवा शक्तियों में विश्वास करना है जो उससे अधिक पराक्रमी है और इन्द्रियों की परख से परे है किन्तु जो उसके मनोवेगों, क्रियाओं, विचारों और व्यवहारों से दूर नहीं है। इस प्रकार दर्शन यदि साध्य है तो धर्म उसका साधन सिद्ध होता है। यह बात स्वीकार कर लेने पर दर्शन शास्त्र धर्म शास्त्र के अधीन हो जाता है, परन्तु यह कहना उचित नहीं क्योंकि दर्शन यदि सैद्धांतिक है तो धर्म व्यावहारिक है। जिस प्रकार सिद्धांत और प्रयोग को एक दूसरे के अधीन नहीं मान

सकते, दोनों को एक दूसरे के पूरक मानेंगे उसी प्रकार दर्शन और धर्म साध्य-साधन होते हुए एक दूसरे के पूरक हैं, एक दूसरे के अधीन नहीं।

दर्शन और धर्म परस्पर संपृक्त हैं। धार्मिक चेतना का आधार शाश्वत और निरपेक्ष तत्त्व ही है। यह शाश्वत अथवा निरपेक्ष तत्त्व प्राय: अज्ञात ही रहता है। धर्म तथा दर्शन का उद्देश्य अज्ञात को ही ज्ञात करना है। इनमें अन्तर केवल इतना ही है कि धर्म जनसाधारण को अज्ञात तक ले जाने का एक जीवनक्रम तैयार करता है जिसके अनुसार लोगों को चलना पड़ता है। धर्म मनुष्य के मार्ग का प्रदर्शन करते हुए उस अज्ञात के महत्त्व को सिंहद्वार तक छोड़ देता है। दर्शन सिंहद्वार खोल देता है और तब व्यक्ति अज्ञात को ज्ञात करता है। धर्म विद्वानों द्वारा बनाया हुआ इस लोक व उस लोक को जोड़ने वाला मार्ग है जिस पर चल कर जनसाधारण परम शांति का अनुभव करते हैं। परन्तु दर्शन उन विचारशील व्यक्तियों के लिये है जो आत्मा तथा ब्रह्मादि का साक्षात्कार कर अज्ञात को ज्ञात करते हैं। इस प्रकार धर्म व दर्शन दोनों का उद्देश्य अज्ञात को ज्ञात करना ही है। संभवत: दोनों के उद्देश्य की समानता को देखकर ही प्रो० सेठ ने कहा था कि धर्म (रिलिजन) तत्त्वविद्या तथा अध्यात्मविद्या का अलग अलग स्रोत हो सकता है किन्तु ऊँचाई पर दोनों साथ साथ हो जाते हैं। इस प्रकार धर्म और दर्शन का आपस में घनिष्ठ संबंध है।

६. धर्म का उद्भव और विकास

धर्म के उद्भव के बारे में पाश्चात्य तथा पौर्वात्य (वेस्टर्न तथा इस्टर्न) विद्वानों में बड़ा मतभेद है। भारतीय धर्म के सम्बन्ध में हमें पौर्वात्य धर्म के बारे में विचार करना है। प्राचीन ग्रन्थ, वेदों के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि कतिपय नियम सृष्टि के आदि से ही समाज में विकसित रहे। उन्हीं विषयों को हम सद् या ऋत नाम से वेदों में अंकित पाते हैं। इन्हीं विषयों का कालान्तर में विभिन्न युगानुसार प्रसार किया गया है। ये नियम समाप्त न हो जायें, इन नियमों में अरुचि न हो जाये इसीलिये सृष्टिकालीन आदि नियम को ही विभिन्न सिद्धांतों ने विभिन्न प्रकार की कहानी कथाओं के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। पुराण आदि ग्रन्थ इसी उपर्युक्त नियम को घोषित करते हैं।

यदि वैदिक कालीन धर्म पर विचार करें तो तत्कालीन धर्म के अन्य कारण भी परिलक्षित होते हैं—

(अ) भय से धर्म का उद्भव

आदि मानव जब प्रकृतिजीवी होकर इधर-उधर जंगलों में घूमता रहा या प्रकृति के अन्य वातावरण में सांस लेता रहा, तथा प्रकृति में आविर्भूत हुई (अचानक होने वाली) घटनाओं से अपनी आत्मा की रक्षा के लिये भयभीत हो उठा। इस भय के परिणाम स्वरूप आत्मा की रक्षा हो सके इसलिये उसने उन सत्त्व अथवा घटना के प्रति स्तुति या प्रशंसा करना प्रारम्भ किया। मेघों के गर्जन से जब भयभीत हुआ तो वह मेघों का स्मरण (स्तुति) करने लगा जिसका अंकन वेदों में मरुत् सूक्त में हुआ है। वर्षा कालीन मेढ़क की टरटराहट से भयभीत हुआ तो उसकी भी स्तुति करने लगा जिसका अंकन या उल्लेख ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त में हुआ है। इसी प्रकार अन्य प्रकृति शक्तियों में ऋतुओं की शक्तियाँ ऋग्वेद के कई सूत्रों में प्राप्त होती हैं।

(ब) आकर्षण से धर्म का उद्भव

वेदों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि मानव न केवल कुछ घटनाओं से भयभीत हुआ बल्कि उनसे आकर्षित भी हुआ और इस आकर्षण के परिणाम स्वरूप आदि मनुष्य ने उनके प्रति श्रद्धा का उपहार स्तुति के रूप में समर्पित किया। प्राचीन काल में द्यूतक्रीड़ा एक आवश्यक एवं प्रतिष्ठित कार्य समझा जाता था। पासे की झंझनाहट से तथा प्राप्त परिणामों के आधार पर वह समाज का आकर्षक वस्तु बन गया। इसीलिये ऋग्वेद में उसके लिये भी स्तुति की गई है। यह स्तुति अक्षसूत्र में देखी जा सकती है। इसी प्रकार सुबह की लाली को देखकर उषा आदि सूक्तों के बारे में भी कहा जा सकता है।

(स) श्रद्धा से धर्म का उद्भव

श्रद्धा के कारण व्यक्ति की शक्ति के विपरीत अधिक शक्तिमान घटनाओं को देखकर आदिमानव में उनके प्रति भी श्रद्धा हुई। तब वह उनके प्रति

श्रद्धालु होकर उनका सहयोग पाने के लिये उनकी स्तुति भी करने लगा। जैसे इन्द्र की स्तुति पूर्व वैदिक काल में अत्यधिक की गई है। इसका एकमात्र कारण अपने समस्त क्रिया कलापों में सहयोग पाना ही था।

उपर्युक्त तीन प्रमुख कारणों के अतिरिक्त अन्य कई छोटे मोटे कारण भी धर्म के उद्‌भव के लिये दिये जा सकते हैं। पर यदि हम इस विषय का सांगोपांग अध्ययन करें तो इन्हीं तीन कारणों में अन्य कारण विलीन होते परिलक्षित होगे। एक बार धर्म का उदय हो जाने पर धीरे-धीरे धर्म सरिता प्रवाहित होती रहती है।

चतुर्थ अध्याय

गुप्त नरेशों के पूर्व कालीन धर्म का इतिहास

किसी भी काल में संस्कृति का कोई भी अंग अपने विकास के लिये अपने पूर्व की संस्कृति का ऋणी होता है। इसीलिये गुप्त नरेशों के धार्मिक इतिहास के विकास और स्वरूप को जानने के लिये यह आवश्यक है कि हम गुप्त काल के धार्मिक स्वरूप को समझ लें। धर्म के इतिहास का प्रारम्भ वैदिक काल से माना जाता था। परन्तु सिंधु घाटी के उत्खनन के पश्चात् प्राप्त अवशेषों से धर्म का इतिहास वैदिक काल से बहुत पूर्व चला जाता है। प्राय: सभी विद्वान् इस मत से सहमत हैं कि सिन्धु घाटी सभ्यता अति-प्राचीन है।

(१) सिंधु घाटी की सभ्यता का धर्म

सिंधु घाटी के उत्खनन से प्राप्त अवशेषों (मूर्तियों, मुहरों तथा ताबीजों) के आधार पर विद्वानों ने सिंधु घाटी में प्रचलित धर्म की रूप रेखा निश्चित की है। सिंधु घाटी के सभी अवशेषों में लिखित साक्ष्य का अभाव है और जो कुछ लिखित प्राप्त हुआ है वह अपठनीय है। धर्म के विषय में भी अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि सिंधु घाटी में धर्म अधिक विकसित था। आधुनिक धर्म की तुलना यदि सिंधु घाटी के धर्म से करें तो दोनों में आश्चर्यजनक समानता पाते है। मार्शल महोदय का मत है कि सिंधु घाटी के लोगों के धर्म में बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनसे मिलती जुलती बातें हमें अन्य देशों में भी मिल सकती हैं। परन्तु सभी कुछ होते हुए भी उनका धर्म इतनी विशेषता के साथ भारतीय है कि वर्तमान युग में प्रचलित धर्म से कठिनता से भेद किया जा सकता है।[1] विद्वानों का मत है कि

---

१. सर जान मार्शल—मोहनजोदड़ों एण्ड द इंडस सिविलाइजेशन

वहाँ के लोग बहुदेववादी होते हुए भी एक ईश्वरीय शक्ति से परिचित थे जो सृजन का प्रतीक थी। यह सृजन शक्ति दो रूपों में थी। एक परम पुरुष तथा दूसरी परमा नारी। मोहनजोदड़ो से एक मुद्रा प्राप्त हुई है जिसमें एक तीनमुखी नग्न व्यक्ति योग की मुद्रा में बैठा है। इसके सिर में त्रिशूल के समान कोई वस्तु है तथा आकृति की बांई ओर एक सिंह तथा एक भैंसा हैं। दाई ओर एक हाथी और व्याघ्र बैठे हैं। सामने भाग में एक हिरण भी है। योगी के ऊपर छः शब्द लिखे है जो कि चित्रमय लिपि में हैं। परन्तु ये शब्द अपठनीय हैं। अधिकांश विद्वानों का मत है कि सम्पूर्ण दृश्य को देख कर ऐसा लगता है कि यह पशुपति का चित्र है जो योगेश्वर व त्रिशूलधारी हैं। कतिपय विद्वानों का मत है कि इस दृश्य में उर्ध्वलिंग भी अंकित है और इसके आधार पर इस मूर्ति को शिव की मूर्ति मानते हैं।[1] चीनी मिट्टी की एक अन्य मुद्रा भी यहाँ से प्राप्त हुई है जिसमें एक योगासीन आकृति है। इस आकृति के दोनों ओर एक-एक नाग और सामने दो नागों को चित्रित किया गया है। आकृति के गले में नाग की कल्पना से विद्वानों ने इसे नागों से घिरा शिव कहा है। इसी प्रकार एक मुद्रा में एक धनुर्धारी शिकारी अंकित है जिसकी कल्पना विद्वानों ने किरात वेशधारी शिव से की है। इस प्रकार सिन्धु घाटी से प्राप्त अवशेपों से वहां प्रचलित धर्म का यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि परम पुरुप के रूप में शिव की पूजा होती थी। परम पुरुप की भांति सिन्धु घाटी में परमा नारी की भी कल्पना की गई थी जिसका प्रमाण वहाँ से प्राप्त मिट्टी की बहुसंख्यक नारी मूर्तियों से मिलता है। इनमें सभी आकृतियों को प्रायः नग्न बनाया गया है। उनके शरीर में पटका, मेखला तथा गले में हार पहनाया गया है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि ये मूर्तियां सृजनकारी मातृदेवी की हैं। प्राचीन समय में भी मातृदेवी की उपासना होती थी। मेसोपोटामियां, सीरिया, साइरस, मिश्र आदि देशों में भी मातृ देवी की मूर्तियां प्राप्त हुई है। पृथ्वी और अदिति नामों से भी वैदिक भारत में मातृ देवी की प्रसिद्धि थी।[2] अतः हम कह सकते हैं कि ये सभी मूर्तियां मातृदेवी (परमनारी) की हैं। ये मूर्तियाँ

---

१. इण्डियन कल्चर, अप्रैल १९३७, पृ० ७६७

२. ऋग्वेद १.८९.१०, यजुर्वेद ९.२२

कई प्रकार की हैं जिनमें एक प्रकार की मूर्ति में एक नारी द्वारा कुछ बच्चों को स्तनपान कराते दिखलाया है और इसी प्रकार एक आकृति में स्त्री के गर्भ से एक वृक्ष को निकलते दिखलाया गया है।

सिंधु घाटी में बहुतायत की संख्या में लिंग भी प्राप्त हुए हैं जो साधारण पत्थर, लाल पत्थर, चीनी मिट्टी अथवा सीप के द्वारा निर्मित हैं। इसमें एक प्रकार के लिङ्गों में शीर्ष भाग नुकीला तथा दूसरे प्रकार में शीर्ष भाग को गोल प्रदर्शित किया है। लिंग आकार में चार फुट तक ऊंचे एवं छोटे आकार के लिंग इतने छोटे हैं कि इनको एक स्थान से दूसरे स्थान में आसानी पूर्वक ले जा सकते हैं। विद्वानों का मत है कि छोटे छोटे लिंगों को सिंधु निवासी सदैव पास में रखते थे। लिंगों के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि सिंधु प्रदेश में लिंग पूजा भी होती थी। लिंग पूजा की भांति यहाँ पर बहुसंख्यक छल्ले भी प्राप्त हुए हैं। ये पत्थर, चीनी मिट्टी या सीप के बने हैं जो आधा इंच से चार इंच तक के हैं। अधिकांश विद्वान् इन छल्लों को योनि मानते हैं। मैके महोदय का मत है कि ये सभी छल्ले योनि मूर्तियां नहीं थीं।

उत्खनन से वृक्षों की भी अनेक मूर्तियां प्राप्त हुई। ये मूर्तियां इंगित करती हैं कि सिंधनिवासी वृक्ष की पूजा भी करते थे। हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा में एक स्त्री आकृति वृक्ष की टहनी को पकड़े खड़ी है। वृक्ष पूजा का अनुमान प्राप्त मुद्राओं में अंकित वृक्ष के सामने पशु बलि के दृश्य से किया जा सकता है कि वृक्ष देवता की प्रसन्नता के लिये बलि दी जाती थी। पशु पूजा यहां पर प्रचलित थी जिसका अनुमान यहाँ से प्राप्त मूर्तियों से होता है। एक बैल कूबड़दार ताम्रपट में प्राप्त हुआ है तथा और भी मुद्राओं में हमें बैल का मूर्ति रूप प्राप्त होता है। प्राचीन देशों में क्रीट, युनान, इरान आदि देशों में पशु पूजा के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। अतः इनके आधार पर पशु पूजा का अनुमान किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त नाग पूजा और जल पूजा भी होती थी। इस प्रकार अवशेषों में प्राप्त अंकन से सिंधु घाटी के धर्म का ज्ञान प्राप्त होता है कि सिंधुनिवासी सृजन शक्ति परम पुरुष व परमा नारी के अतिरिक्त पशुपूजा, नागपूजा, वृक्षपूजा एवं जलपूजा भी करते थे।

२. वैदिक कालीन धर्म

सैंधव सभ्यता के बाद वैदिक काल में धर्म का एक नया रूप परिलक्षित होता है। ऋग्वेद से यह ज्ञात होता है कि पूर्व वैदिक काल के आर्य प्रकृति के विभिन्न अंगों की स्तुति श्रद्धा या भय से प्रभावित होकर करते थे जिसकी जानकारी मन्त्रों से होती है। पूर्व वैदिक काल को मैक्समूलर महोदय ने बहुदेववादी कहा है जो उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि ये एक ही परम शक्ति अंशी की विभिन्न शक्तियाँ थीं। वैदिक काल के मानव को प्रारम्भ में प्राकृतिक शक्तियों का अनुभव हुआ और उनको प्रसन्न करने के लिये तथा स्वयं के लाभ की भावना से प्रेरित होकर प्रकृति की संहारक शक्ति को देखकर उनकी स्तुति एवं पूजा उसने करना आरम्भ किया। इस समय पूजा केवल स्तुति से होती थी और जटिलता तथा त्याग की भावना का समावेश अभी नहीं हुआ था। इस काल में आर्यों का धर्म सादा, सरल सुसंस्कृत और परिष्कृत था। इस काल में देवताओं की संख्या अनन्त थी। सर्व प्रथम आर्यों ने आकाश और पृथ्वी की उपासना की तथा धीरे-धीरे वरुण का महत्त्व बढ़ा और वह उनके प्रमुख देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।[१] प्रकृति की महान् शक्तियों में सूर्य को भी देवता का स्थान मिला। सूर्य को ऋग्वेद में मनुष्यों के समस्त सत्-असत् कर्मों का द्रष्टा कहा है, जो समस्त ज्योतियों में सर्वोत्तम है।[२] सूर्य के साथ साथ विष्णु की उपासना या पूजा की जाती थी जो संसार के संरक्षक के रूप में थे।[३] इसी प्रकार अनेक देवी देवताओं का नामोल्लेख मिलता है जिसमें अग्नि[४] को विशेष महत्त्व प्राप्त है। अग्नि को पुरोहित भी कहा गया है। आर्यों का सर्वोत्तम पेय सोम था। अतः इसे देवत्व प्रदान किया गया। इसे कहीं कहीं चन्द्रमा भी माना है।[५] देवताओं को छोटा और बड़ा पद ऋग्वेद में आये सूक्त के अनुसार दिया गया है, जिस देवता के लिये ज्यादा मंत्र आये उन्हें बड़ा और जिनके लिये कम मंत्र आये उनको छोटा देवता मान लिया गया।

---

१. ऋग्वेद ८.४१
२. ऋग्वेद १०.१३६.६
३. ऋग्वेद १.१५४. ४.२. १
४. ऋग्वेद ६०.११.४
५. ऋग्वेद १०.५-४

जैसे जैसे समय वीतता गया वैसे वैसे आर्यो के देवी देवताओं की संख्या भी बढ़ती गई। वैदिक देवमंडली प्रभूत एवं सर्वशक्तिमान् देवताओं का समुदाय था। वैदिक मानव उसके अस्तमन में प्रशंसात्मक मंत्रों का प्रयोग करता तथा सर्वस्व अर्पण करने को प्रस्तुत रहता था। देवताओं की सतत सहायता के कारण वह अस्तमन से ही संतोष न पा सका और उसमें समर्पण की भावना भी आने लगी। इस भावना ने आहुति प्रदान करने के लिये प्रेरित किया तथा यज्ञ आदि भी होने लगे। इस यज्ञ में देवी देवताओं को भी आमंत्रित किया जाता था। इस प्रकार यज्ञादि क्रियायें भी प्रमुख कार्य माने जाने लगे। वैदिक धर्म में प्रकृति पूजक याज्ञिक कर्मकाण्ड का सम्पादन करने लगा। देवपूजा के साथ पितृपूजा का भी ज्ञान प्राप्त होता है। इस काल में देव और पितरों का साथ साथ उल्लेख किया गया है।[1] इस प्रकार वैदिक काल में अनेक देवी देवताओं की पूजा स्तुति के माध्यम से होती थी जो समय समय में प्रमुख एवं गौण स्थान प्राप्त करते जाते थे। जैसे वरुण का स्थान इन्द्र ने लिया।

३. महाकाव्य कालीन धर्म

महाकाव्य काल में वैदिक युग की भांति देवताओं का मण्डल एवं कर्मकाण्ड की प्रधानता दिखलाई देती है परन्तु इस समय धर्म में व्यापक परिवर्तन दिखलाई देता है। धर्म की व्याख्या नये रूप में की गई। नये नये धार्मिक सम्प्रदायों का उदय हुआ। वैदिक काल में प्राकृतिक शक्ति के प्रति देवी देवताओं की स्तुति और आराधना होती थी परन्तु इस काल में प्रजापति, विष्णु एवं रुद्र की महत्ता अधिक बढ़ गई थी। ये ईश्वर की तीन प्रमुख शक्तियाँ सृजन, पालन पोषण व संहारक के रूप में मानी जाने लगीं। इस युग में इन देवी देवताओं के अतिरिक्त अन्य देवी देवताओं की पूजा भी होती थी जिसमें गणेश, पार्वती आदि थे। यज्ञों का महत्व इस काल में इतना बढ़ा कि ब्राह्मण ग्रन्थों का उद्देश्य केवल यज्ञों का महत्त्व समझाना हो गया। यज्ञ देवता की पूजा का साधन होने के स्थान पर साध्य बन गया और देवता भी यज्ञ के वश हो गये। यज्ञ में आहुति के अतिरिक्त पशु बलि भी होने लगी। देव मण्डल का त्याग नहीं हुआ परन्तु उसमें त्रिमूर्ति

---

१. ऋग्वेद १०.१५, १० ५४

और विष्णु के अनेक रूपों का विकास होने लगा। विष्णु से आधारित वैष्णव धर्म का विशेष विकास हुआ और विष्णु के दशावतारों का वर्णन महाभारत में विभिन्न नामों से इस समय होने लगा। शिव से शैव धर्म का प्रचलन हुआ। रामायण व महाभारत दोनों में शिव के महाप्रतापों का वर्णन प्राप्त होता है। विष्णु की भांति शिव के सहस्र नामों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। पर शिव के अवतारों की कथा नहीं पाई जाती। उसके कई वेशों में प्रकट होने की कथा प्राप्त होती है। शिव के पशुपति, किरात, त्रिपुरादि नाम भी प्राप्त होते हैं।

४. महाजनपद कालीन धर्म

ब्राह्मण धर्म की जटिलता एवं कर्मकाण्ड की अधिकता ने कर्मकाण्ड के प्रति विद्रोह पैदा किया जिसके परिणाम स्वरूप उससे उबरने के लिये बुद्धि-जीवियों ने क्रान्ति पैदा की और यहीं से बौद्ध व जैन धर्म का उदय हुआ। प्राचीन धर्म के आलोचक बड़े क्रान्तिकारी विचारों के प्रवर्तक थे। ई० पू० ६वीं शताब्दी के अन्त में धार्मिक क्रान्ति हुई। इसी समय विभिन्न देशों में भी धार्मिक क्रान्तियां हुई। यह काल संसार के इतिहास में महत्त्वपूर्ण व धार्मिक क्रान्ति का काल माना जाता है। महावीर ने जैन धर्म को सघटित रूप प्रदान किया पर जैन धर्म की प्राचीनता उससे भी अधिक है। कुछ विद्वान् जैन धर्म का संबंध मोहनजोदड़ों से प्राप्त योगी की मूर्ति से जोड़ते हैं। कतिपय विद्वान् ऋग्वेद[१] में उल्लिखित तपस्वियों और जैन श्रमणों से संबंध स्थापित करते है। इसी भांति वैदिक साहित्य में भी जैन तीर्थंकरों के नामों का आभास मिलता है।[२] महावीर स्वामी के पूर्व २३ तीर्थंकर हो चुके थे और वे २४वें तीर्थंकर थे। प्रथम ऋषभदेव थे, संभवतः महाभारत में उल्लिखित भगवान ऋषभदेव और जैन तीर्थंकर ऋषभदेव दोनों एक ही थे।[३] महावीर ने जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार किया। जैन धर्म निवृत्ति मार्गीय था। उनके अनुसार संसार के सभी सुख दुःखमूलक हैं। वे व्याधि रूप है।[४] उन्होंने

---

१. ऋग्वेद—केशी सूक्त १०.१३६

२. ३. तरति संसारमहार्णवम् एतेन निमित्तेन तत्तीर्थमिति।

३. भागवतपुराण ५.२८

४. उत्तराध्ययन सूत्र १३.६.१७ १४

मोक्ष प्राप्ति हेतु तीन साधन बतलाये— सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र। जैन धर्म में भिक्षुवर्ग के लिये निम्नलिखित पंचमहाव्रतों की भी व्याख्या की गई है जोकि अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अस्तेय है। अहिंसा पर अधिक जोर दिया गया है। जैनधर्म अनीश्वरवादी है क्योंकि जैन लोग ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकार नहीं करते। जैनधर्म को राज्याश्रय प्राप्त हुआ और प्रोत्साहन भी मिला था। इस क्रान्ति काल में जैनधर्म की भान्ति एक और धर्म का उदय हुआ जिसे बौद्ध धर्म के नाम से जाना जा सकता है। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध हुए। इन्हीं के नाम पर बौद्ध धर्म का नाम पड़ा। बुद्ध का जन्म ई० पू० ६वीं शताब्दी में हुआ। बुद्ध के निर्माण के बाद उनके शिष्यों ने धर्म के प्रसार कार्य को बड़ी लगन से पूरा किया। बौद्ध धर्म का सिद्धांत त्रिपिटक नामक मूल ग्रन्थ में निहित है और चार आर्य सत्य बौद्ध धर्म की आधारशिला हैं। दुःख, दुःखसमुदाय, दुःखनिरोध और दुःख निरोध मार्ग। तृष्णा, अतृप्त दूषित मनोवृत्तियां एवं संकीर्णता का निरोध कैसे किया जाय इसके लिये बुद्ध ने जो मार्ग बतलाये हैं उनको आर्य आष्टांगिक मार्ग कहते हैं। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् आजीव, सम्यक् स्मृति, समाधि आदि है। बुद्ध के धर्म प्रचार के कारण बौद्ध धर्म अधिक प्रचलित हुआ। इसका प्रचार न केवल भारत में ही वरन विदेशों में भी हुआ। इस धर्म को राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ। बुद्ध के पूर्व भारत में अनेक महाजनपद भी थे जिनमें सोलह महाजनपद मुख्य थे। इसीलिए इन्हें षोडश महाजनपद भी कहा जाता है। इन षोडश जनपदों की सूची बौद्ध, जैन व ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होती है। इन जनपदों के ऊपर बौद्ध व जैन धर्म का प्रभाव पड़े बिना न रह सका। बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय[1] में महाजनपदों की चर्चा मिलती है। परन्तु जैन ग्रन्थ भगवती सूत्र में इनकी सूची भिन्न है। इस प्रकार ई० पू० ६वी शताब्दी में जैन व बौद्ध धर्म का उदय हुआ। इन्हें राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ था। बौद्ध धर्म का प्रभाव अधिक रहा पर ब्राह्मण धर्म मानने वालों की संख्या बहुत थी। मगध राज्य के उत्कर्ष काल में भी बौद्ध धर्म अधिक प्रचलित रहा। अजातशत्रु जो अपने प्रारम्भिक काल में ब्राह्मणधर्मावलम्बी था, अन्तिम दिनों में

---

१. अंगुत्तरनिकाय १.२१३, ४.२५२.२५६.३०

बौद्ध धर्म को मानने लगा । बौद्धों की प्रथम संगीति का आयोजन मार पहाड़ों में इसी के काल में हुआ था । शिशुनागवंशी राजाओं के काल में बौद्ध धर्म की द्वितीय संगीति का आयोजन हुआ था । शिशुनागवंश के बाद नन्दवंश के राजा हुए ।

५. मौर्यकालीन धर्म

नंदों के शासन काल में ही चाणक्य और चंद्रगुप्त निकट रहे जिसमें चाणक्य एक ब्राह्मण होने के साथ ही ब्राह्मणधर्मावलंबी था । चंद्रगुप्त का पालन पोषण ब्राह्मण धर्म के वातावरण में हुआ था । कतिपय विद्वानों का मत है कि चंद्रगुप्त अपने जीवन के प्रारंभिक दिनों में ब्राह्मणधर्मावलंबी था और अपने अंतिम दिनों में उसने जैन धर्म ग्रहण कर लिया था । जैन लेखक हेमचंद्र ने परिशिष्ट पर्व में लिखा है कि प्रारंभिक दिनों में चंद्रगुप्त मिथ्या मतावलंबियों का संरक्षक था ।[1] अतः ब्राह्मण धर्म को मानने वाले चंद्रगुप्त ने जैन धर्म ग्रहण कर लिया था ।

मौर्य सम्राटों की धार्मिक नीति अधिक उदार थी और साथ ही सात्त्विक भी थी । वे प्रत्येक धर्म को आदर व श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे । देश में धार्मिक सहिष्णुता व्याप्त थी । इस समय धार्मिक जीवन तीन सम्प्रदायों में विभक्त था । वैदिक, जैन और बौद्ध । वैदिक धर्मावलंबियों की संख्या भी इस समय अधिक थी । वैदिक धर्म में क्रिया विधियां एवं अनुष्ठान तथा यज्ञ बलि आदि का पूर्ण प्रचार था । समाज में बहुदेववाद का सिद्धांत भी प्रचलित था। लोग अनेक देवी देवताओं की पूजा करते थे । मूर्ति पूजा धर्म का एक प्रधान अंग था । इस समय वासुदेव की भी पूजा होती थी और वासुदेव के अतिरिक्त विष्णु, इन्द्र और वरुण की भी पूजा होती थी । अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वैदिक धर्म के साथ साथ पौराणिक, शैव और वैष्णव धर्म भी प्रचलित थे । भक्ति प्रधान भागवत धर्म का भी प्रारम्भ हो गया था । मौर्यकाल में जैन धर्म भी एक प्रमुख धर्म था, चंद्रगुप्त के पौत्र सम्प्रति ने भी जैन धर्म स्वीकार किया था । मौर्य काल में अन्य धर्मों की अपेक्षा बौद्ध धर्म का प्रचलन अधिक हुआ । इस काल के प्रतापी सम्राट् अशोक ने स्वयं बौद्ध

१. परिशिष्ट पर्व ८.४१५

धर्म स्वीकार किया और उसका खूब प्रसार एवं प्रचार भारत तथा विदेशों में किया। इसके परिणाम स्वरूप यह धर्म विश्वधर्म बन गया। परन्तु अशोक ने धर्म में सार्वभौम और नैतिकता पर अधिक महत्त्व दिया था। बौद्ध धर्म की दो शाखाओं का जन्म हो गया था एक स्थविरवादी तथा दूसरी महासांघिक। इन उप-शाखाओं से बौद्ध धर्म मे मतभेद होना प्रारंभ हो गया। तब अशोक ने तृतीय बौद्ध संगीति कर उसे दबाने का प्रयास किया था। बौद्ध धर्म से संबंधित अनेक स्तूपों का निर्माण भी इस समय हुआ। अशोक ने भारत तथा विदेशों में बौद्ध धर्म का खूब प्रचार किया, इस धर्म विजय नीति के फलस्वरूप अस्त्र-शस्त्रों में जंग लग गये। सेना में अब सैनिक के स्थान पर भिक्षु भरती होने लगे। धर्ममहामात्य की नियुक्ति सेना के महामात्य के स्थान पर होने लगी।[1] इन सब स्थितियों से जब मौर्य सेना पंगु हो गई तो विदेशी आक्रमण संभव था। देश को इस स्थिति से बचाने हेतु क्रान्ति हुई और सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने विद्रोह कर मौर्य वंश के अंतिम शासक वृहद्रथ को मारकर शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली। इसके बाद मौर्य का पतन हो गया तथा शुंग वंश की स्थापना भारत में हुई।

६. शुंग, कण्व, आंध्र सातवाहन कालीन धर्म

शुंगों के काल में बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ब्राह्मण धर्म को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। वैदिक धर्म की क्रियायें, प्रथायें, विधियां और कर्मकाण्ड ने फिर से जोर पकड़ा तथा ये दिनों-दिन अधिक लोकप्रिय होते गये। शुंग नरेश ब्राह्मणधर्मावलंबी थे। अतः यज्ञों का महत्त्व भी इस काल में बढ़ा। अश्वमेध यज्ञ जिसका कुछ समय के लिये लोप हो गया था पुनः प्रारम्भ हुआ। शुंग नरेश पुष्यमित्र ने दो "अश्वमेध यज्ञ किये थे। अश्वमेध यज्ञ तथा अन्य ब्राह्मण धार्मिक क्रियाओं से यह स्पष्ट होता है कि इस काल में ब्राह्मण धर्म पूर्व की भांति फिर से अपने स्थान पर प्रतिष्ठित हो गया। जैन व बौद्ध धर्म अहिंसा पर अधिक बल देते थे पर ब्राह्मण धर्म में पशुबलि, हवन आदि क्रियायें भी अब धर्म का अंग बन गयी थीं। भारतीयों के अतिरिक्त विदेशों में भी भारतीय धर्म (ब्राह्मण) को विदेशी ग्रहण कर रहे थे। इस

---

१. हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इंस्क्रिपशंस (पाण्डे) पृ० १५

संदर्भ में वेश-नगर के गरुड़ स्तम्भ[1] को प्रमाण स्वरूप रखा जा सकता है। ब्राह्मण धर्म के मानने वाले यद्यपि बहुसंख्यक थे परन्तु इस काल में बौद्ध धर्म को प्रमुखता प्राप्त हुई थी।

एस० एन० घोष आदि कुछ विद्वानों का मत है कि पुष्यमित्र शुंग एक मात्र कट्टर ब्राह्मणवादी था वरन् उसने बौद्ध धर्म और उसके अनुयायियों का अनादर भी किया था। उसने घोषणा भी की थी कि जो मुझे श्रमण का सिर लाकर देगा उसे मैं १०० दीनार दूंगा। दिव्यावदान का यह वर्णन यथोचित नहीं क्योंकि पुष्यमित्र व शुंग वंशीय नरेशों ने बौद्ध धर्म के लिए अनेक कार्य किये थे। इसी काल में सांची और भरहुत के स्तूपों का निर्माण हुआ था। कुछ बौद्ध स्मारक बौद्धों के प्रति धार्मिक सहिष्णुता का ज्ञान कराते है।

कण्व व सातवाहन नरेशों में भी ब्राह्मण धर्म को राजधर्म घोषित किया था और प्रोत्साहन भी दिया था। ब्राह्मण धर्म को सातवाहनों के काल में राज्याश्रय भी प्राप्त था जिससे इस धर्म की बहुत उन्नति हुई। बहुदेववाद; वैदिक कर्मकाण्ड और यज्ञों ने फिर से अपनी जड़ें मजबूत कर ली थीं। इन नरेशों ने अनेक प्रकार के यज्ञ किए और दान दक्षिणा भी प्रचुर मात्रा में दी जाने लगी थी। बहुदेववाद के कारण अनेक देवी देवताओं की आराधना और पूजा होने लगी थी। वैष्णव धर्म इस समय काफी लोकप्रिय हो रहा था। इसी कारण अनेक विदेशी शासकों—जैसे यूनानी और शकों ने वैष्णव धर्म को ग्रहण किया था। शैव धर्म का भी काफी प्रचार हुआ। इस काल में अनेक राजाओं के नाम शिव से सम्बन्धित पाए जाते हैं। इसी काल में बौद्ध धर्म भी अपनी उन्नत दशा में था। और सातवाहनों के काल में विशेष उन्नति को प्राप्त हुआ। जबकि ये नरेश ब्राह्मणधर्मावलम्बी थे। बौद्ध भिक्षुओं को दान भी दिया जाता था। उनके निवास हेतु अनेक बौद्ध विहारों एवं पूजा के लिए चैत्य ग्रहों का निर्माण किया गया था। जैन धर्म को इस समय काफी प्रोत्साहन मिला। इस काल में निर्मित जैन गुहाएँ इसके प्रमाण हैं। उड़ीसा में जैन धर्म ही प्रचलित था।

---

१. हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इंस्क्रिप्शंस (पाण्डे) पृ० ४४

२. यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं वित्तशतं दास्यामि।

इस प्रकार शुंग, कण्व और सातवाहनों के काल में ब्राह्मण धर्म का ही अधिक प्रचलन था किन्तु उसके साथ साथ बौद्ध व जैन धर्म भी विकसित हो रहे थे। ब्राह्मण वंश के होने के कारण ये नरेश ब्राह्मणधर्मावलम्बी कहलाए।

७. शक कुषाण कालीन धर्म

विदेशी विजेता के रूप में शकों का भी आगमन भारत में हुआ। शकों ने भारत वर्ष में शासन करते हुए भारतीय संस्कृति को भी स्वीकार किया था। भारतीय समाज और संस्कृति ने उन्हें भी अपने में आत्मसात् कर लिया था और धीरे-धीरे ये विदेशी अपनी विदेशीयता को त्याग कर पूर्णतः भारतीय बन गये। शकों का भारतीयकरण हो गया था जिसकी पुष्टि महाभारत के उल्लेख से भी होती है जिसमें कहा गया है कि शक द्वीप में वर्णाश्रम धर्म प्रतिष्ठित था और वहां के निवासी मिथ्याचार, लोभ, ईर्ष्या से मुक्त हैं।[1] उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि वर्णाश्रम व्यवस्था का पालन जो शक नरेश करते थे वे भारतीय हो गये थे अर्थात् उनका पूर्णरूपेण भारतीयकरण हो गया था और वे ब्राह्मणों की वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत आ गये थे। पुराणों और महाभारत का कथन है कि शक द्वीप के ब्राह्मणों को 'मग' कहा जाता था।[2] प्रारंभ में ये मग शकों के पुरोहित थे परन्तु कालान्तर में वे भारतीय ब्राह्मणों की कोटि में परिवर्तित होने लगे।[3] मनु ने इन शकों को वृषल क्षत्रिय की कोटि में रखा है।[4] इस बात की चर्चा महाभारत में भी मिलती है कि ये शक प्रारंभ में क्षत्रिय थे परन्तु ब्राह्मणों के सम्पर्क से पृथक् हो जाने के कारण शूद्रता को प्राप्त किये थे।[5] इस प्रकार सभी प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि शकों का भारतीयकरण हो गया था और इन लोगों ने भारतीय संस्कृति एवं धर्म को भी स्वीकार कर लिया था।

पश्चिम भारत में शक लोग बौद्ध व ब्राह्मण धर्म में समान रूप से रुचि रखते

---

१. महाभारत ६.११
२. कूर्मपुराण ७.३६, महाभारत ५.१.२
३. प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास (वि० च० पाण्डेय) पृ० ५६३
४. मनु० १०.४३-६४४
५. महा० अनु० ३३.२१-२३

थे जिसकी पुष्टि अभिलेखों से होती है। कान्हेरी अभिलेख[1] से ज्ञात होता है कि बौद्ध संघ को ग्राम दान में दिया गया था। आगे इसी अभिलेख में ब्राह्मणों को दिये गये दान की भी चर्चा प्राप्त होती है। इस प्रकार अभिलेखों से ज्ञात होता है कि शकों के काल में बौद्ध व ब्राह्मण धर्म को समान स्थान प्राप्त था। ब्राह्मणों के धर्म के अनेक सम्प्रदायों का भी ज्ञान होता है। महाभारत में उल्लेख आया है कि शक द्वीप में शंकर की पूजा होती थी।[2] शक नरेशों के नाम रुद्रसेन, रुद्रदामन्, रुद्रसिंह से भी अनुमान किया जा सकता है कि वे शिव के उपासक थे।[3] उनकी मुद्राओं में शिव एवं पार्वती के चित्र अंकित मिलते हैं। इस प्रकार आभिलेखिक व साहित्यिक साक्ष्यों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि शकों के काल में बौद्ध और ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा हो गई थी और वे भारतीय धर्म को स्वीकार कर भारतीय हो गये थे। भारतीयों की भांति उनमें भी धार्मिक सहिष्णुता की भावना थी।

कुषाणों के काल में धर्म का एक नया ही स्वरूप देखने को मिलता है। इसके पूर्व ब्राह्मण धर्म का जो विकास शुंग सातवाहन काल में हुआ उससे बौद्ध धर्म का विकास कुछ समय के लिये रुक गया था। कुषाणों ने भारतीय संस्कृति को ग्रहण किया था और उनका पूर्णरूपेण भारतीयकरण हो गया था। भारतीय धर्म और संस्कृति का कुषाणों के ऊपर काफी प्रभाव पड़ा और धर्म के क्षेत्र में उन लोगों ने जो नीति अपनाई वह पूर्व प्रचलित धर्म से भिन्न थी। कुषाणों का संस्थापक नरेश कुजुल कदफिस अपने नाम के आगे भारतीय विरुद महाराजाधिराज की उपाधि धारण किया था। कुषाणों के ऊपर भारतीय धर्म के ब्राह्मण व बौद्ध दोनों धर्मों का प्रभाव पड़ा और जिसके परिणामस्वरूप उस समय बौद्ध धर्म का एक नया स्वरूप देखने को मिलता है। प्रारम्भिक नरेश कुजुल की प्राप्त कतिपय मुद्राओं से विद्वानों का अनुमान है कि वह बौद्ध धर्म को मानने वाला था। कुजुल के बाद उसका पुत्र विमकैडफिस हुआ जिसकी मुद्राओं से स्पष्ट है कि वह जैन धर्म को मानने वाला था।[4] विम की मुद्राओं से तत्कालीन ब्राह्मण धर्म का अनुमान किया

---

१. लुडर्स १०६० ए० इ० भाग ८ पृ० ७८

२. महाभारत ६.२१.२८

३. डेव्हलपमेन्ट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी १ (बैनर्जी) पृ० १२२

४. प्राचीन भारतीय मुद्राएं (उपाध्याय) पृ० १२७

जा सकता है कि इस समय भी ब्राह्मण धर्म की गति अबाध थी। विम ने माहेश्वर की उपाधि धारण की थी।[१] उसके बाद इस वंश का महान् नरेश कनिष्क हुआ। यद्यपि कनिष्क धर्मसहिष्णु था परन्तु अपने व्यक्तिगत धर्म के रूप में उसने बौद्ध धर्म को ही स्वीकार किया था। उसने धर्म की दीक्षा अश्वघोष से ली थी। कनिष्क के काल में बौद्ध धर्म में अनेक जटिलताएँ एवं विवाद उत्पन्न हो गए थे। अतः उनके निवारण के लिये कनिष्क ने बौद्ध विद्वानों की सभा का आयोजन किया था। यह बौद्धों की चौथी संगीति थी जिसमें महाविभाष नामक ग्रन्थ का संग्रह किया गया था। इस काल में बौद्ध संगीति के परिणामस्वरूप महायान सम्प्रदाय का उदय हुआ। यह पूर्व के हीनयान सम्प्रदाय से भिन्न था। इसमें अनेक बातें भारतीय ब्राह्मण सम्प्रदाय से प्रभावित थीं। महायान सम्प्रदाय में निरीश्वरवादी शुष्क निवृत्तिप्रधान हीनयान की काया पलट कर उसे ईश्वरवादी तथा प्रवृत्तिप्रधान, मनोरम रूप में उपस्थित किया गया।[२] कनिष्ककालीन बौद्ध धर्म पर एवं बोधिसत्ववाद पर ही भागवत धर्म का प्रभाव नहीं पड़ा अपितु उसका प्रभाव महायान सम्प्रदाय पर भी पड़ा। इस प्रकार बौद्ध महायान सम्प्रदाय ईश्वरवादी सम्प्रदाय बना। सेनार्ट तथा पूषन् की मान्यता है कि बौद्ध धर्म के निर्माण में नारायण धर्म का महत्वपूर्ण योगदान है। इसके पूर्व बुद्ध के पदों की पूजा होती थी और अब उसे बौद्धों ने विष्णु की पद-पूजा से ग्रहण किया है।[३] बौद्ध धर्म में अनेक देवी देवताओं के समान पद्मपाणि, अवलोकितेश्वर, अमिताभ आदि देवताओं की अर्चना करने की कल्पना की जाने लगी।[४] इस समय बुद्ध की उपासना व भक्ति की धारा बड़े जोर शोर से चल पड़ी और बुद्ध की पूजा व उपासना की जाने लगी। इस समय यत्र तत्र मूर्तियाँ भी स्थापित की गईं। गोकुल दास डे ने बौद्धसाहित्य में प्राप्त भागवत तत्त्वों की जातकों के आधार पर समीक्षा कर यही निष्कर्ष निकाला है कि बौद्ध धर्म भागवत धर्म से प्रभावित रहा है।[५]

---

१. प्राचीन भारतीय मुद्राएं (उपाध्याय) पृ० १२७
२. धर्म व दर्शन (बलदेव उपाध्याय) पृ० १७७
३. द एजेज आफ इम्पीरियल यूनिटी पृ० ४५०
४. विश्व धर्म दर्शन (बिहार राष्ट्र भाषा प्रकाशन) पृ० ११६
५. भूमिका-सिग्निफिकेन्स एण्ड इम्पार्टेंस आफ जातकाज पृ० १५६-५६

इस समय बुद्ध मूर्तियों के निर्माण के दो केन्द्र थे—गंधार एवं मथुरा। विद्वानों में मतभेद है कि पहले मूर्तियाँ कहाँ बनना प्रारम्भ हुई ? बुद्ध प्रतिमाओं का निर्माण दो प्रकार से किया गया है—एक यक्ष परम्परा में खड़ी प्रतिमा तथा दूसरे योगी की मुद्रा में बैठी प्रतिमा। इन मूर्तियों को कई मुद्राओं में बनाया गया है जिनमें धर्मचक्र परिवर्तनमुद्रा, भूमिस्पर्श-मुद्रा, अभयमुद्रा, वरदमुद्रा आदि थे। खड़ी मूर्तियों को अभयमुद्रा व वितर्कमुद्रा में प्रस्तुत किया गया है। मथुरा एवं गांधार की मूर्तियों में मथुरा की मूर्तियां अधिक भारतीय हैं परन्तु गांधार की मूर्तियों में विदेशी वेशभूषा का प्रभाव परिलक्षित होता है।

कनिष्क ने बौद्ध धर्म को स्वीकारा, उसके प्रचार एवं प्रसार के लिए काफी योगदान किया। बौद्ध संगीति का भी आयोजन कनिष्क के काल में हुआ। अशोक की भांति इसने भी विस्तृत साम्राज्य और आस पास के प्रदेशों में धर्म का प्रचार कराया। उत्तरी एशिया में बौद्ध धर्म की महायान शाखा का प्रचार इसी के समय में हुआ। इसने अनेक स्तूप, चैत्य व विहार का निर्माण कर बौद्ध धर्म से सम्बन्धित विशाल स्तूप और काष्ठ स्तम्भ का निर्माण राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) में करवाया तथा उसमें भगवान् बुद्ध की अस्थियों को प्रतिष्ठित करवाया।[1]

कनिष्क के बाद उसके उत्तराधिकारियों ने ब्राह्मण धर्म को स्वीकार किया। वासुदेव ने शैव धर्म का एवं हुविष्क ने वैष्णव धर्म को स्वीकार किया। इसी युग में शैव धर्म के सहयोगी कार्तिकेय सम्प्रदाय का विकास हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुषाण काल में बौद्ध धर्म व ब्राह्मण धर्म दोनों को राजाओं ने स्वीकार किया परन्तु बौद्ध धर्म का विशेष विकास हुआ और महायान सम्प्रदाय का उदय हुआ।

---

१. वाट्र्स भाग १ पृ० २०४, अलबेरुनी तहकीके हिन्द भाग २ पृ० ११

पंचम अध्याय

गुप्त नरेशों का प्रमुख धर्म वैष्णव

१. वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास

वैदिक काल में भारतीय धर्म का स्वरूप भिन्न भिन्न रूप में प्रस्तुत हुआ है। आर्यों ने देवत्व के दर्शन प्रकृति के विभिन्न अंगों में किये थे। जल, वायु, अग्नि, अंतरिक्ष, सरिता आदि सभी देवता के रूप में पूजे जाने लगे। इनमें वरुण जल देवता के रूप में उपासना के केन्द्र बने तथा इन्द्र अन्तरिक्ष के एवं अग्नि पृथ्वी के देवता हुए। सूर्य जगत् की आत्मा बन गये।[1] ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अन्य देवताओं के साथ इस काल में यज्ञादि कार्यों के साथ शिश्न देवता की आराधना एवं स्मरण वर्जित माना गया था।[2] इस प्रकार आर्यों ने सर्व प्रथम आकाश व पृथ्वी की उपासना की और फिर सूर्य, सविता, अग्नि, सोम, इन्द्र, विष्णु, अदिति और देवताओं की उपासना की। वरुण के लिये ऋग्वेद का सातवां मण्डल भरा पड़ा है। इसमें उपासक की भक्ति भावना उन्मुक्त हो कर वह रही है। वस्तुतः कालान्तर के भक्ति मार्ग का बीज इन्हीं स्रोतों में भरा पड़ा है। भक्ति मूलक वैष्णव धर्म भागवत धर्म का प्राचीनतम आधार ऋग्वेद के वरुण स्रोतों में ही मिलेगा।[3] ऋग्वेद में हमें विष्णु की चर्चा भी विष्णुसूक्त में

---

१. ऋग्वेद ६.७.१४, १.११४.१

२. ऋग्वेद ७.२१.५

३. प्राचीन भारतीय इतिहास (विमलचन्द्र पाण्डे) पृ० १२५

प्राप्त होती है जिसमें विष्णु को संसार का संरक्षक कहा गया है।[1] ऋग्वेद में कहा गया है कि विष्णु उपासकों की अर्चना सुन कर सदैव आ जाता है।[2] ऋग्वेद में विष्णु के तीन पदों का उल्लेख है जिसमें वह समस्त ब्रह्माण्ड का अतिक्रमण करता है।[3] मनुष्य उसके दो पदों को तो देख सकता है परन्तु तृतीय पद उसकी दृष्टि से बाहर ही है।[4] इस प्रकार वैदिक काल से ही आर्यों के अनेक देवी देवताओं की सूची प्राप्त होती है जिसमें विष्णु का भी नाम मिलता है। ऋग्वेद में विष्णु के नाम का उल्लेख कई वार हुआ है।

संस्कृत साहित्य में विष्णु शब्द का बहुत प्रचार देखा जाता है। वेद और उपनिषद् में, इतिहास व पुराण में, संहिता और काव्य सभी जगह विष्णु शब्द का विपुल व्यवहार देखने को आता है। कतिपय विद्वान् विष्णु की तुलना वैदिक साहित्य में अनेकशः वर्णित इन्द्र से और कुछ विद्वान् आदित्य से करते हैं क्योंकि वे तीन स्थानों में पद धारण करते हैं जिसमें प्रथम पद पृथ्वी में, द्वितीय अन्तरिक्ष में एवं तृतीय ध्रुवलोक में है। पृथ्वी पर सभी पदार्थों में अग्नि रूप में, अन्तरिक्ष में विद्युत् रूप में एवं ध्रुवलोक में अवस्थान के समय रहते हैं। और्णवाभ आचार्य कहते हैं कि उसका एक पद समारोहण (उदयगिरि) पर, दूसरा विष्णु पद पर (मध्य गगन) एवं तीसरा गया सिर (अस्ताचल) पर पड़ा था। और्णवाभ आदि भाष्यकारों ने विष्णु को सूर्य कहा है तथा कुछ विद्वानों का कथन है कि सूर्य को ही दूसरे नाम से ऋग्वेद में विष्णु कहा गया है। वाजसनेय संहिता[5] तथा अन्य संहिताओं में प्रकारान्तर से यही बात कही गई है। इस प्रकार आर्यों के काल में ही विष्णु के नाम का उल्लेख इन्द्र, वरुण, रुद्र, सोम और मरुत् के साथ प्राप्त होता है।

---

१. ऋग्वेद १.१५५.६

२. ऋग्वेद ६.६९.५, ७.९९.३

३. ऋग्वेद १.२२.१८

४. ऋग्वेद १.२१.१५४

५. वाजसनेयिसंहिता ५.१५

ऋग्वेद काल के बाद उत्तर वैदिक काल में इन देवताओं का महत्त्व घटता बढ़ता दिखलाई देता है जिसमें विष्णु का महत्त्व प्रजापति और रुद्र के साथ दिखलाई देता है। इस काल में इन्द्र, वरुण आदि का महत्त्व कम हो गया और विष्णु सभी देवताओं में अधिक सम्माननीय और श्रेष्ठ माना जाने लगा। ऋग्वेद के बाद सामवेद व अन्य वेदों में विष्णु की स्तुति की गई है। इसकी महत्ता इतनी बढ़ गई थी कि प्रत्येक संस्कार में उसका नाम लिया जाने लगा था और उसके बिना प्रतिस्थापना नहीं होती थी। इन भावनाओं को महाकाव्यों और पुराणों में और भी विकसित किया गया। विष्णु उपासकों के इष्टदेव के रूप में उभर कर सामने आए और लोगों ने इष्टदेव की भक्ति और उपासना में ही मुक्ति का मार्ग ढूंढा। धर्म के इस नये रूप ने वैष्णव धर्म का नाम ग्रहण कर लिया। वैष्णव धर्म—विष्णु ही जिसके आराध्य देव हों अर्थात् जो विष्णु का भजन करते हैं, अतः वैष्णव धर्म के प्रधान देव विष्णु हैं जिनका वैयक्तिक विकास ही वैष्णव धर्म है। धीरे धीरे विष्णु के व्यक्तित्व विकास में वासुदेव, नारायण, गोपाल-कृष्ण समाहित हो गये तब वैदिक विष्णु तीन नामों को आत्मसात् करता हुआ उत्तर भारत का प्रमुख देवता बन गया। उत्तर वैदिक काल में वासुदेव का उल्लेख प्राप्त होता है तथा इस काल में उसके सम्प्रदाय का भी उदय हो चुका था। वासुदेव के परम मित्र अर्जुन को भी देवत्व मिला एवं वासुदेव सम्प्रदाय के अन्तर्गत उसकी भी उपासना होने लगी थी जिसमें वासुदेव के उपासक वासुदेवक तथा अर्जुन के उपासक अर्जुनक कहलाये।[1] इस प्रकार वासुदेव की उपासना प्रारम्भ हो गई जो वैदिक देवता नहीं था। वासुदेव का जन्म वृष्णि लोगों के सात्वत नामक समाज में वसुदेव के घर देवकी के गर्भ से हुआ था। वासुदेव के समान उसके बड़े भाई संकर्षण की उपासना भी प्रचलित थी।

महाकाव्य काल में ब्रह्मा सृष्टि का सर्जन करता और विष्णु सृष्टि का पालन करता तथा शिव संहारक के रूप में पूजे जाने लगे। महाभारत में विष्णु को आर्यों का एकमात्र प्रधान बहुत बड़ा देवता कहा गया है जो सृष्टि का भरण, पालन-पोषण करने वाला है तथा ब्रह्मा का एक विशेष रूप माना जाता है।[2]

१. पाणिनि ४.३.९८ वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्।

२. महाभारत ५.७०.३

प्राप्त होती है जिसमें विष्णु को संसार का संरक्षक कहा गया है।[1] ऋग्वेद में कहा गया है कि विष्णु उपासकों की अर्चना सुन कर सदैव आ जाता है।[2] ऋग्वेद में विष्णु के तीन पदों का उल्लेख है जिसमें वह समस्त ब्रह्माण्ड का अतिक्रमण करता है।[3] मनुष्य उसके दो पदों को तो देख सकता है परन्तु तृतीय पद उसकी दृष्टि से बाहर ही है।[4] इस प्रकार वैदिक काल से ही आर्यों के अनेक देवी देवताओं की सूची प्राप्त होती है जिसमें विष्णु का भी नाम मिलता है। ऋग्वेद में विष्णु के नाम का उल्लेख कई बार हुआ है।

संस्कृत साहित्य में विष्णु शब्द का बहुत प्रचार देखा जाता है। वेद और उपनिषद् में, इतिहास व पुराण में, संहिता और काव्य सभी जगह विष्णु शब्द का विपुल व्यवहार देखने को आता है। कतिपय विद्वान् विष्णु की तुलना वैदिक साहित्य में अनेकशः वर्णित इन्द्र से और कुछ विद्वान् आदित्य से करते हैं क्योंकि वे तीन स्थानों में पद धारण करते हैं जिसमें प्रथम पद पृथ्वी में, द्वितीय अन्तरिक्ष में एवं तृतीय द्युवलोक में है। पृथ्वी पर सभी पदार्थों में अग्नि रूप में, अन्तरिक्ष में विद्युत् रूप में एवं द्युवलोक में अवस्थान के समय रहते हैं। और्णवाभ आचार्य कहते हैं कि उसका एक पद समारोहण (उदयगिरि) पर, दूसरा विष्णु पद पर (मध्य गगन) एवं तीसरा गया सिर (अस्ताचल) पर पड़ा था। और्णवाभ आदि भाष्यकारों ने विष्णु को सूर्य कहा है तथा कुछ विद्वानों का कथन है कि सूर्य को ही दूसरे नाम से ऋग्वेद में विष्णु कहा गया है। वाजसनेय संहिता[5] तथा अन्य संहिताओं में प्रकारान्तर से यही बात कही गई है। इस प्रकार आर्यों के काल में ही विष्णु के नाम का उल्लेख इन्द्र, वरुण, रुद्र, सोम और मरुत् के साथ प्राप्त होता है।

---

१. ऋग्वेद १.१५५.६
२. ऋग्वेद ६.६९.५, ७.९९.३
३. ऋग्वेद १.२२.१८
४. ऋग्वेद १.२१.१५४
५. वाजसनेयिसंहिता ५.१५

ऋग्वेद काल के बाद उत्तर वैदिक काल में इन देवताओं का महत्त्व घटता बढ़ता दिखलाई देता है जिसमें विष्णु का महत्त्व प्रजापति और रुद्र के साथ दिखलाई देता है। इस काल में इन्द्र, वरुण आदि का महत्त्व कम हो गया और विष्णु सभी देवताओं में अधिक सम्माननीय और श्रेष्ठ माना जाने लगा। ऋग्वेद के बाद सामवेद व अन्य वेदों में विष्णु की स्तुति की गई है। इसकी महत्ता इतनी बढ़ गई थी कि प्रत्येक संस्कार में उसका नाम लिया जाने लगा था और उसके बिना प्रतिस्थापना नहीं होती थी। इन भावनाओं को महाकाव्यों और पुराणों में और भी विकसित किया गया। विष्णु उपासकों के इष्टदेव के रूप में उभर कर सामने आए और लोगों ने इष्टदेव की भक्ति और उपासना में ही मुक्ति का मार्ग ढूंढा। धर्म के इस नये रूप ने वैष्णव धर्म का नाम ग्रहण कर लिया। वैष्णव धर्म—विष्णु ही जिसके आराध्य देव हों अर्थात् जो विष्णु का भजन करते हैं, अतः वैष्णव धर्म के प्रधान देव विष्णु हैं जिनका वैयक्तिक विकास ही वैष्णव धर्म है। धीरे धीरे विष्णु के व्यक्तित्व विकास में वासुदेव, नारायण, गोपाल-कृष्ण समाहित हो गये तब वैदिक विष्णु तीन नामों को आत्मसात् करता हुआ उत्तर भारत का प्रमुख देवता बन गया। उत्तर वैदिक काल में वासुदेव का उल्लेख प्राप्त होता है तथा इस काल में उसके सम्प्रदाय का भी उदय हो चुका था। वासुदेव के परम मित्र अर्जुन को भी देवत्व मिला एवं वासुदेव सम्प्रदाय के अन्तर्गत उसकी भी उपासना होने लगी थी जिसमें वासुदेव के उपासक वासुदेवक तथा अर्जुन के उपासक अर्जुनक कहलाये।[1] इस प्रकार वासुदेव की उपासना प्रारम्भ हो गई जो वैदिक देवता नहीं था। वासुदेव का जन्म वृष्णि लोगों के सात्वत नामक समाज में वसुदेव के घर देवकी के गर्भ से हुआ था। वासुदेव के समान उसके बड़े भाई संकर्षण की उपासना भी प्रचलित थी।

महाकाव्य काल में ब्रह्मा सृष्टि का सर्जन करता और विष्णु सृष्टि का पालन करता तथा शिव संहारक के रूप में पूजे जाने लगे। महाभारत में विष्णु को आर्यों का एकमात्र प्रधान बहुत बड़ा देवता कहा गया है जो सृष्टि का भरण, पालन-पोषण करने वाला है तथा ब्रह्मा का एक विशेष रूप माना जाता है।[2]

१. पाणिनि ४.३.९८ वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्।
२. महाभारत ५.७०.३

इस काल में विष्णु के अनेक अवतारों का विकास हुआ तथा राम को भी विष्णु का अवतार कहा गया। वैदिक विष्णु की तादात्मता ऐतिहासिक वासुदेव कृष्ण के साथ की गई जिसका प्रचार सात्वत यादवों में अधिक हुआ। महाभारत में पांचरात्र वैष्णव धर्म का वर्णन आया है कि पाञ्चरात्र वैष्णव चतुर्व्यूह के रूप में विष्णु की उपासना करते थे।[1] इसी के आगे चलकर उसका विकास हुआ तथा व्यूह सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया और उसके अनुसार वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एवं ब्रह्मा की कल्पना कृष्ण और उनके परिवार के सदस्यों को लेकर की गई। इस प्रकार व्यूह के रूप में भी वैष्णव धर्म का विकास हुआ। महाकाव्य काल में विष्णु के अवतारों का भी विकास होने लगा था अवतारों का सम्बन्ध धार्मिक व राजनैतिक आंदोलनों से जोड़ दिया गया। महाभारत[2] में विष्णु के दस अवतारों का उल्लेख मिलता है। वायुपुराण एवं वराह पुराण में भी विष्णु के दस अवतारों का उल्लेख मिलता है।[3] इस प्रकार अवतारों व व्यूह की कल्पना से वैष्णव धर्म का विकास काफी हुआ। पुराणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा सृष्टिकर्ता, भगवान (विष्णु) पालन कर्ता रुद्र तथा कहीं कहीं शिव संहारक के रूप में जाने जाते थे। यह पौराणिक सिद्धान्त इस देश के बाल, वृद्ध, बनिता सभी को मालूम हैं।

महाकाव्य काल में धार्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप बौद्ध व जैन धर्म का प्रचार प्रचुर मात्रा में हुआ जिससे वैष्णव धर्म का विकास अवरुद्ध हो गया था परन्तु वैष्णव धर्म के मानने वाले विष्णु की उपासना करते थे। परन्तु केवल इस समय विष्णु की महत्ता घट गई थी। जो धारा उत्तर वैदिक काल में प्रारम्भ हुई वह परवर्ती काल में भी विकासोन्मुख थी। चतुर्व्यूह की उपासना पद्धति का प्रवाह बाद में भी परिलक्षित होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लेख आया है कि वासुदेव के साथ संकर्षण की भी पूजा और उपासना होती थी।[4] कालान्तर में वासुदेव व संकर्षण की भी पूजा

---

१. महाभारत ११.६.१०
२. महाभारत १२.३६६.१०४
३. वायुपुराण ९८.७१, वराहपुराण ४.२
४. अर्थशास्त्र १३.३.६७

सम्मिलित रूप से प्रचलित हुई जिसकी पुष्टि घोषुंडी अभिलेख[1] से होती है। कतिपय विद्वानों का मत है कि पंचवीरों में संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरुद्ध की सामूहिक उपासना प्रचलित थी। पुरातात्विक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि प्रथम सदी ई० पू० में भागवत सम्प्रदाय का प्रवाह था। पश्चिमोत्तर प्रांत के राजा अन्तिलिकिदस (यूनानी नरेश) का राजदूत हेलियोदोरस मध्य भारत के वेसनगर के राजा के पास भेजा गया था। यहाँ आकर दूत विष्णु का परम भक्त हो गया, यहाँ तक कि विष्णु मन्दिर के सामने एक विष्णु ध्वज की स्थापना की तथा उस पर एक लेख भी खुदवाया था। इस अभिलेख में भागवत शब्द के साथ उसका नाम आज भी खुदा है।[2] प्रथम सदी में मथुरा के महाक्षत्रप सोडास के शासन काल में पंचवीरों की पूजा एवं उपासना होती थी। तोषानामिनी उपासिका ने पंचवीरों की प्रतिमाएँ मथुरा में स्थापित की थीं।[3] अतः वैष्णव धर्म का प्रवाह इस समय चतुर्व्यूह के रूप में था। डा० जे० एन० बैनर्जी का मत है कि प्रत्येक पंचवीरों की स्वतन्त्र रूप से उपासना होती थी। वे वेशनगर और पवाया (पद्मावती) से प्राप्त गरुडध्वज, तालध्वज और मकरध्वज को क्रमशः वासुदेव, संकर्षण एवं प्रद्युम्न के ध्वज और मंदिर होने का प्रमाण मानते हैं।[4] इस प्रकार विष्णु जो वैदिक काल में एक गौण देवता था, उत्तरवैदिक काल में उसकी महत्ता इतनी बढ़ गई कि भारतीय आर्यों का वह एक प्रमुख देवता बन गया। इतना प्रमुख देवता कि किसी भी याज्ञिक अथवा वैवाहिक संस्कारों के समय में विष्णु की प्रतिमा अथवा प्रतीक रखना आवश्यक माना गया। गुप्तकालीन अनेक ग्रंथों में वैष्णव की ही प्रधानता के लक्षण मिलते हैं। बहुत से विद्वानों ने बहुत से पुराणों को गुप्तकालीन माना है। सर्वविदित है कि पुराणों (समस्त) में वैष्णव पुराणों की अधिकता एवं प्रधानता है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि गुप्त काल में विष्णु तथा उनसे संबंधित वैष्णव धर्म अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था।

---

१. ए० इ० भाग १६ पृ० २७, २२, २०३
२. हिस्टोरिकल एण्ड लिटरेरी इंस्क्रिप्शंस (पाण्डेय) पृ० ४४
३. ए० इ० भाग २४ पृ० १९४-२००
४ प्रो० इ० हि० का० ७ पृ० ८२, ९०

२. वैष्णव धर्म : राज्याश्रय प्राप्ति

सभी समय में प्रत्येक देश का अपना एक राजचिह्न होता है। प्राचीन भारतीय इतिहास के संवेक्षण से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में भी राजचिह्न होता था। मौर्यों की साम्राज्य स्थापना के पूर्व भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था और विशाल एवं संगठित साम्राज्य के अभाव में उनका अपना कोई राजचिह्न नहीं था। इन छोटे-छोटे राज्यों को संगठित करके चन्द्रगुप्त मौर्य ने मौर्य वंश की स्थापना की। यह पिप्पलीवन का राजकुमार था और यह प्रदेश पर्वतीय और प्राकृतिक प्रदेश था। इन्हीं कारणों से मौर्यों ने अपना राजचिह्न 'मेरु' (पर्वत) को ही चुना था। इसकी पुष्टि मौर्यकालीन पुरातात्विक अवशेषों से होती है। सोहगौरा ताम्रपत्र[1] व कुम्हार नामक स्थान से प्राप्त मौर्य स्तंभ में मेरु का चिह्न मिला है जिसकी तिथि ई० पू० ३३० है। इसके अतिरिक्त मौर्य काल की अनेक वस्तुओं एवं मुद्राओं में भी यह चिह्न अंकित मिलते हैं। मौर्यों के बाद कुषाण नरेशों की मुद्राओं में भी राजचिह्न के रूप में शैव नरेशों की मुद्रा में त्रिशूल एवं चंद्रमा का अंकन तथा बौद्ध धर्मावलंबी कुषाण नरेशों की मुद्रा में बोधिसत्त्व का अंकन पाते हैं। इस प्रकार इस काल में हम देखते हैं कि गुप्तकाल के पूर्व ही प्राचीन भारत में राजचिह्न का प्रयोग होता था।

गुप्त काल में वैष्णव धर्म का पुनरुद्धार हुआ और गुप्तों के संरक्षण में वैष्णव धर्म का खूब प्रचार हुआ। वैष्णव धर्म की प्रबलता हुई जिसके कारण गुप्तों ने उसी पर ध्यान केन्द्रित किया। गुप्त काल के आते-आते वैष्णव धर्म की महत्ता अधिक बढ़ गई थी और महत्ता बढ़ जाने के कारण गुप्त नरेशों ने वैष्णव धर्म को स्वीकार किया और व्यक्तिगत धर्म के रूप में ग्रहण करने के कारण जिस प्रकार अशोक ने बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान किया था, इसी प्रकार गुप्तों ने भी वैष्णव धर्म को राज्याश्रय प्रदान किया। डा० परमेश्वरी लाल गुप्त का मत है कि, "गुप्त नरेशों के द्वारा वैष्णव धर्म को राज्याश्रय प्रदान करने का मूल कारण उसका अपना स्वरूप था, जिसमें सभी प्रकार के लोक विश्वासों का एकीकरण था, उसमें तर्क और बुद्धि की अपेक्षा विश्वास का प्राबल्य था जो लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करता था। इसमें सभी वर्ग के

---

१. हिस्टोरिकल एण्ड लिटरेरी इंस्क्रिप्शंस पृ० १२

लोगों की धार्मिक आवश्यकता की पूर्ति होती थी। संक्षेप में वैष्णव भक्ति तत्कालीन सामाजिक दृष्टिकोण के अनुरूप थी।"[1] इस प्रकार वैष्णव धर्म गुप्तकाल का सर्वप्रमुख धर्म था और भागवत धर्म के नाम से प्रख्यात हुआ। गुप्तवंश के अधिकांश राजा इसी धर्म के अनुयायी थे और उन लोगों ने अपने सिक्कों तथा अभिलेखों में परम भागवत[2] की उपाधि अंकित करायी जिसका अर्थ 'विष्णु का परम भक्त' है।

वैष्णव धर्म में विष्णु को गुप्तों ने अपने आराध्य देव के रूप में स्वीकार किया अतः उनके वाहन गरुड़ को भी समान स्थान दिया। गरुड़ विष्णु के वाहन के रूप में महाकाव्य काल के पूर्व नहीं था। महाकाव्यकाल में ही वह विष्णु का वाहन माना गया। गरुड़ को विष्णु का वाहन होने की चर्चा महाभारत[3] में प्राप्त होती है जिसमें विष्णु ने गरुड़ को वरदान दिया। विष्णु ने गरुड़ को अपना वाहन चुनना चाहा तथा अपने ध्वज के ऊपर अवस्थित रहने की माँग की। इस प्रकार महाभारत में विष्णु के वाहन होने का प्रमाण प्राप्त होता है परन्तु विष्णु के वाहन के रूप में गरुड़ का अंकन कला एवं स्थापत्य में शुंग काल से ही प्राप्त होता है जो बाद के अनेक स्थानों में भी प्राप्त होता है। शुंग काल के बाद विष्णु का अंकन स्वयं प्रतिमा के रूप में एवं वाहन के रूप में प्राप्त होता है। कहीं-कहीं वैष्णव प्रतिमाओं के अभाव में विष्णु का ज्ञान उनके वाहन, प्रतीक आदि से भी होता है। गुप्त अभिलेखों में विष्णु के वाहन के रूप में गरुड़ का उल्लेख[4] तथा गरुड़ की चर्चा भी मिलती है।[5] गुप्त नरेशों ने गरुड़ प्रकार की मुद्राओं का भी प्रचलन किया था।[6] गुप्त नरेशों का राजधर्म वैष्णव था और गरुड़ विष्णु के वाहन

---

१. गुप्त साम्राज्य (डा० परमेश्वरी लाल गुप्त) पृ० ४९०
२. गुप्तकालीन मुद्राएं—पृ० ८७, १५७, १७६, आदि, का० इ० इ० पृ० २७, ४०, ४१, ४३, ५०, ५३
३. महाभारत आदिपर्व
४. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ८९
५. वही पृ० ५९
६. गुप्तकालीन मुद्राएं पृ० १४३

२. वैष्णव धर्म : राज्याश्रय प्राप्ति

सभी समय में प्रत्येक देश का अपना एक राजचिह्न होता है। प्राचीन भारतीय इतिहास के संवेक्षण से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में भी राजचिह्न होता था। मौर्यों की साम्राज्य स्थापना के पूर्व भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था और विशाल एवं संगठित साम्राज्य के अभाव में उनका अपना कोई राजचिह्न नहीं था। इन छोटे-छोटे राज्यों को संगठित करके चन्द्रगुप्त मौर्य ने मौर्य वंश की स्थापना की। यह पिप्पलीवन का राजकुमार था और यह प्रदेश पर्वतीय और प्राकृतिक प्रदेश था। इन्हीं कारणों से मौर्यों ने अपना राजचिह्न 'मेरु' (पर्वत) को ही चुना था। इसकी पुष्टि मौर्यकालीन पुरातात्त्विक अवशेषों से होती है। सौहगौरा ताम्रपत्र[1] व कुम्हार नामक स्थान से प्राप्त मौर्य स्तंभ में मेरु का चिह्न मिला है जिसकी तिथि ई० पू० ३३० है। इसके अतिरिक्त मौर्य काल की अनेक वस्तुओं एवं मुद्राओं में भी यह चिह्न अंकित मिलते हैं। मौर्यों के बाद कुषाण नरेशों की मुद्राओं में भी राजचिह्न के रूप में शैव नरेशों की मुद्रा में त्रिशूल एवं चंद्रमा का अंकन तथा बौद्ध धर्मावलंबी कुषाण नरेशों की मुद्रा में बोधिसत्त्व का अंकन पाते हैं। इस प्रकार इस काल में हम देखते हैं कि गुप्तकाल के पूर्व ही प्राचीन भारत में राजचिह्न का प्रयोग होता था।

गुप्त काल में वैष्णव धर्म का पुनरुद्धार हुआ और गुप्तों के संरक्षण में वैष्णव धर्म का खूब प्रचार हुआ। वैष्णव धर्म की प्रबलता हुई जिसके कारण गुप्तों ने उसी पर ध्यान केन्द्रित किया। गुप्त काल के आते-आते वैष्णव धर्म की महत्ता अधिक बढ़ गई थी और महत्ता बढ़ जाने के कारण गुप्त नरेशों ने वैष्णव धर्म को स्वीकार किया और व्यक्तिगत धर्म के रूप में ग्रहण करने के कारण जिस प्रकार अशोक ने बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान किया था, इसी प्रकार गुप्तों ने भी वैष्णव धर्म को राज्याश्रय प्रदान किया। डा० परमेश्वरी लाल गुप्त का मत है कि, "गुप्त नरेशों के द्वारा वैष्णव धर्म को राज्याश्रय प्रदान करने का मूल कारण उसका अपना स्वरूप था, जिसमें सभी प्रकार के लोक विश्वासों का एकीकरण था, उसमें तर्क और बुद्धि की अपेक्षा विश्वास का प्राबल्य था जो लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करता था। इसमें सभी वर्ग के

---

१. हिस्टोरिकल एण्ड लिटरेरी इंस्क्रिप्शंस पृ० १२

लोगों की धार्मिक आवश्यकता की पूर्ति होती थी। संक्षेप में वैष्णव भक्ति तत्कालीन सामाजिक दृष्टिकोण के अनुरूप थी।"[१] इस प्रकार वैष्णव धर्म गुप्तकाल का सर्वप्रमुख धर्म था और भागवत धर्म के नाम से प्रख्यात हुआ। गुप्तवंश के अधिकांश राजा इसी धर्म के अनुयायी थे और उन लोगों ने अपने सिक्कों तथा अभिलेखों में परम भागवत[२] की उपाधि अंकित करायी जिसका अर्थ 'विष्णु का परम भक्त' है।

वैष्णव धर्म में विष्णु को गुप्तों ने अपने आराध्य देव के रूप में स्वीकार किया अतः उनके वाहन गरुड़ को भी समान स्थान दिया। गरुड़ विष्णु के वाहन के रूप में महाकाव्य काल के पूर्व नहीं था। महाकाव्यकाल में ही वह विष्णु का वाहन माना गया। गरुड़ को विष्णु का वाहन होने की चर्चा महाभारत[3] में प्राप्त होती है जिसमें विष्णु ने गरुड़ को वरदान दिया। विष्णु ने गरुड़ को अपना वाहन चुनना चाहा तथा अपने ध्वज के ऊपर अवस्थित रहने की माँग की। इस प्रकार महाभारत में विष्णु के वाहन होने का प्रमाण प्राप्त होता है परन्तु विष्णु के वाहन के रूप में गरुड़ का अंकन कला एवं स्थापत्य में शुंग काल से ही प्राप्त होता है जो बाद के अनेक स्थानों में भी प्राप्त होता है। शुंग काल के बाद विष्णु का अंकन स्वयं प्रतिमा के रूप में एवं वाहन के रूप में प्राप्त होता है। कहीं-कहीं वैष्णव प्रतिमाओं के अभाव में विष्णु का ज्ञान उनके वाहन, प्रतीक आदि से भी होता है। गुप्त अभिलेखों में विष्णु के वाहन के रूप में गरुड़ का उल्लेख[४] तथा गरुड़ की चर्चा भी मिलती है।[५] गुप्त नरेशों ने गरुड़ प्रकार की मुद्राओं का भी प्रचलन किया था।[६] गुप्त नरेशों का राजधर्म वैष्णव था और गरुड़ विष्णु के वाहन

---

१. गुप्त साम्राज्य (डा० परमेश्वरी लाल गुप्त) पृ० ४६०
२. गुप्तकालीन मुद्राएं—पृ० ८७, १५७, १७६, आदि, का० इ० इ० पृ० २७, ४०, ४१, ४३, ५०, ५३
३. महाभारत आदिपर्व
४. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ८९
५. वही पृ० ५६
६. गुप्तकालीन मुद्राएं पृ० १४३

थे । इसीलिए गरुड़ के चिह्न को ही गुप्तों ने राजचिह्न के रूप में स्वीकार किया जिसका अंकन उनके राजाज्ञापत्र में प्राप्त होता है (समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति।[1] से ज्ञात होता है कि उनके अधीनस्थ नरेशों ने गरुत्मदंक से अंकित राजाज्ञापत्र की मांग की थी। इससे ज्ञात होता है कि गरुड़ चिह्न राज्य चिह्न था और राज्ञाज्ञा पत्र केन्द्रीय शासन से संबंधित था।

आज भारतवर्ष में भी राजचिह्न का प्रयोग होता है। अशोक का लाट भारत शासन द्वारा राजचिह्न के रूप में प्रयुक्त होता है। अशोक का धर्म सार्वभौम धर्म था और उसमें सभी धर्मों का समावेश था। भारतवर्ष भी आज एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है और उसमें सभी धर्मों के उत्थान की भावना निहित है। चूंकि अशोक एक धर्म निरपेक्ष सम्राट् था इसीलिए आज भारत का राजचिह्न अशोक का लाट है जो अशोक की धर्म निरपेक्षता का द्योतक है।

३. वैष्णव धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय

सम्यक् प्रदीयत इति सम्प्रदायः—गुरुपरम्परा सम्यक् रूप से चली आ रही है और जिसमें गुरु शिष्य को सम्यक् रूप से मंत्र, आराध्य, आराधना तथा आचार पद्धति प्रदान करता है उसका नाम सम्प्रदाय है। धर्म का पथ विशेप सम्प्रदाय कहलाता है। सम्प्रदाय साधक तथा अनुयायी को एक पथ प्रदान करता है जिस पर चलकर वह धर्म द्वारा एक निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुंच सके। एक ग्रंथ, एक उपासना, एक आचार, एक सिद्धान्तपद्धति जहां भी प्रचलित है वह सम्प्रदाय है। विभिन्न सम्प्रदायों की स्थापना आध्यात्म जगत् में उपासकों द्वारा अपने उपास्य विशेष (आराध्य) को जगदीश मानने के कारण हुई है। वैष्णव धर्म इसका अपवाद नहीं है। वैष्णव धर्म का सर्वेक्षण करने पर ज्ञात होता है।

(अ) नारायण सम्प्रदाय
(ब) वासुदेव सम्प्रदाय
(स) वैखानस सम्प्रदाय
(ड) भागवत सम्प्रदाय

अभिलेखों का मूल उद्देश्य किसी धर्म या सम्प्रदाय की चर्चा करना नहीं होता है अतः गुप्त अभिलेखों में भी वैष्णव धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों का

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ६

स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है परन्तु विष्णु के नामों के उल्लेख से गुप्त काल में प्रचलित विभिन्न वैष्णव सम्प्रदाय का अनुमान कर सकते हैं। इन सम्प्रदायों से संबन्धित प्रमुख आराध्यदेव का उल्लेख गुप्त अभिलेखों में कहीं-कहीं स्पष्ट एवं कहीं-कहीं पर्यायवाची नाम के रूप में हुआ है। इन नामों से उन सम्प्रदायों का ज्ञान भली भाँति किया जा सकता है।

(अ) नारायण सम्प्रदाय

गुप्त नरेशों के अभिलेखों में नारायण या नारायण सम्प्रदाय का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता परन्तु विष्णु शब्द की कल्पना नारायण से की जा सकती है। परिभाषित अर्थ के आधार पर विष्णु को भी हम नारायण मान सकते हैं। ऐसे विष्णु (नारायण) की चर्चा गुप्त नरेशों के अभिलेख[1] में कई स्थानों में प्राप्त होती है।

ब्राह्मण धर्म के प्रतिपादक ग्रंथों (पुराणों, स्मृतियों एवं उपनिषदों) में नारायण की विशेष चर्चा मिलती है। पुराणों एवं पुराणों से पुरानी उपनिषदों का सर्वेक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि वासुदेव से भी प्राचीनतर सत्ता नारायण की है। ऋग्वेद में नारायण का उल्लेख मिलता हैं।[2] श्रीमद्भागवत में नारायण का उल्लेख आदर के साथ किया गया है तथा महाभारत के प्रत्येक पर्व के आरम्भ में नर एवं नारायण की स्तुति की गई है। नारायण के नाम से ही नारायणोपनिषद् की भी रचना प्राप्त होती है। ये सारे तथ्य इस बात के प्रतीक हैं कि नारायण पर आश्रित वैष्णव सम्प्रदाय बहुत पुराना है।

नारायण के साथ नर का भी उल्लेख प्राप्त होता है। यह वैष्णव सम्प्रदाय की विशिष्ट देन है कि विष्णु अवतार के साथ एक अंश की योजना (सहयोजना) की जाती है जैसे नर-नारायण, शेष-विष्णु, राम-लक्ष्मण तथा कृष्ण-बलराम। विभिन्न चिंतकों के अनुसार विष्णुरूपी अवतार ब्रह्म का द्योतक है और साथ लगे वैष्णव अंश जीव के परिचायक हैं अर्थात् परमात्मा अपने साथ निश्चल जीवात्मा को भी संसार की शिक्षा के लिए रखता है।

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ५६, ६१, ७४, ७६, १४१ आदि
२. दशम मण्डल, पुरुष सूक्त

महर्षि व्यास का अत्यंत प्रिय पद्य यही है "नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम्।[1] उपनिषद् वैदिक रचनाओं का अन्तिम चरण हैं। वहाँ और उसके पूर्व वैदिक रचनाओं में यत्र तत्र इस शब्द का प्रयोग मिलता है पर वासुदेव का नहीं।

वैदिक संस्कृति के बाद लौकिक संस्कृति में लिखे गए दो ग्रन्थ रत्न महाभारत एवं रामायण में कई स्थलों पर विष्णु के विभिन्न नामों में नारायण को ही सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया है। नार शब्द का अर्थ ज्ञान, मनुष्यता एवं जल आदि हैं जिसमें अयन का योग करके बनता है "नार+ अयन—नारायण। इसके मुख्य तीन अर्थ इस प्रकार हैं :—

(१) ज्ञान का उद्गम स्थल अर्थात् समस्त विधानों के मूल निवास को नारायण कहते हैं।
(२) मनुष्यता का एक मात्र निकेतन नारायण है।
(३) जल ही जिसका निवास स्थान हो वह नारायण है।

इसके अतिरिक्त और भी कई अर्थ होते हैं जिनमें समस्त जगत् का एक मात्र अधिष्ठाता परमब्रह्म नारायण है। इस प्रकार नारायण शब्द की व्यापकता के आधार पर हम कह सकते हैं कि नारायण धर्म का प्रचार पूर्व सुदूर काल से चला आ रहा है।

(ब) वासुदेव सम्प्रदाय

वैष्णव धर्म के अंतर्गत वासुदेव की लोकप्रियता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अध्येय अभिलेख में वासुदेव सम्प्रदाय या वासुदेव की चर्चा नहीं है परन्तु वासुदेव की चर्चा कृष्ण के रूप में[2] तथा सात्वत[3] के रूप में प्राप्त होती है। मोनियर विलियम के संस्कृत शब्द कोश में सात्वत को विष्णु अथवा कृष्ण का एक नाम बतलाया है। कृष्ण के आधार पर वासुदेव सम्प्रदाय का अनुमान कर सकते हैं। पुराणों में पारलौकिक एवं लौकिक सिद्धियों को प्राप्त करने के लिये जिस द्वादशाक्षर महामन्त्र का गठन किया

---

१. महाभारत आदि पर्व १.१, आदि
२. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ५४
३. वही पृ० २७०

गया है वह इसी वासुदेव से अनुप्राणित है। 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय।' श्रीमद्भागवत आदि छः वैष्णव पुराणों में इसी वासुदेव का एक मात्र साम्राज्य है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि इसी वासुदेव से विकसित हो कर वैष्णव धर्म की अन्य शाखायें लोकव्यवहार में उतरीं। आगे चलकर शैव धर्मावलम्बियों ने इसी वासुदेव के आधार पर रुद्र को समानान्तर देव माना। यह बात स्वतः सिद्ध है कि जब किसी देव की अधिक प्रतिष्ठा हो जाती है तब अनुकरण पर अन्यान्य देवों, मन्त्रों एवं संघों की स्थापना होती है। वैष्णव धर्म में वासुदेव धर्म की विकासावस्था ही अन्य धर्म के विकास का कारण रही है।

प्रचलित परम्परा के अनुसार वासुदेव का अर्थ वसुदेव का पुत्र अर्थात् कृष्ण होता है। परन्तु ऐसा मानने पर इस सम्प्रदाय की प्राचीनतम प्रतिष्ठा में बाधा होती है और ऐसा मानने पर वासुदेव साक्षात् विष्णु न होकर विष्णु के आठवें अवतार कृष्ण के रूप में मान्यता को प्राप्त होने लगेंगे। जिससे वासुदेव धर्म की पूर्व चर्चित महिमा असंगत होने लगेगी अतः 'वासुदेवस्य अपत्यम् पुमान् वासुदेवः' न होकर वासुदेव का अर्थ—वसति जगत् अस्मिन् इति वासुः स चासौ देव इति वासुदेवः अर्थात् जिसमें समस्त जगत् निवास करता है—संगत है। वासुदेव उस निर्गुण ब्रह्म का वाचक शब्द है जिसकी इच्छा मात्र से जगत् की अभिव्यक्ति होती है। पाणिनि की अष्टाध्यायी से ज्ञात होता है कि उसके काल में वासुदेव की पूजा होती थी एवं उसके उपासक वासुदेवक कहलाते थे।[1] कतिपय विद्वानों का मत है कि चौथी शती ई० पू० में मथुरा प्रदेश में हिराक्लिज़ की पूजा विशेष रूप से होती थी[2] जो ऐतिहासिक वासुदेव कृष्ण के रूप में था। ई० पू० शती में एक गरुड़ध्वज की स्थापना हेल्योडोरस ने वासुदेव ध्वज के रूप में की। इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्प्रदाय के रूप में विष्णु की पूजा एवं उपासना गुप्तकाल एवं उसके पूर्व में भी होती रही।

(स) वैखानस सम्प्रदाय

किसी भी धर्म के विकास की चरम पराकाष्ठा वैराग्य या एकान्तवास में

---

१. पाणिनि की अष्टाध्यायी ४.३:९८

२. मेगेस्थनीज के वर्णन के आधार पर

३. हिस्टोरिकल एण्ड लिटरेरी इंस्क्रिप्शंस पृ० ४४

परिणत हो जाती है। इसी सिद्धांत के आधार पर वैष्णव धर्म के प्रमुख तीन सम्प्रदाय भागवत, वासुदेव एवं नारायण जब विकास की अन्तिम शृंखला में ढल रहे थे तो ई० पू० ६वीं शताब्दी से संस्कृत काव्यों एवं नाटकों के अन्तराल में वैखानस शब्द का प्रयोग होने लगा था और वैष्णव धर्मावलंबी गृहस्थ होने पर भी एक विरक्त जीवन बिताने लगे। श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा को 'विखनस' कहा गया है जो वैखानस का प्रेरक स्वरूप आदि है।

यह वैखानस वैष्णव अपने गृहस्थ जीवन के पर्याप्त काल को बिता कर वानप्रस्थ आश्रम में उतर कर या तो जंगलों में कुटिया बना कर मुनि जीवन व्यतीत करते थे अथवा ग्रामों या नगरों के एकांत स्थल में पूर्व-निर्मित या स्वनिर्मित मठों के अधीश होकर या प्रचारकवन कर रहते थे। जैसे महाकवि कालिदास के शाकुंतलम् का मुख्य पात्र कण्व। महाकवि कालिदास के समय तक वैखानस सम्प्रदाय का अर्थ यह समझा जाता था कि वह तपस्वी वैष्णव जो संसार की वासनाओं से दूर, एकान्त तपोवन में ब्रह्मचर्य-मय जीवन व्यतीत करे एवं उसका मुख्य कार्य तप, गोपालन, अध्यापन, शिष्यों का अन्न, वस्त्र एवं विद्या से पोषण तथा शरणागत राजाओं को परामर्श देना था। ऐसे ही वैखानसों में भारतीय तपस्वियों की गणना की जाती है, किन्तु आगे चलकर ब्रह्मचर्य की शर्त समाप्त कर दी गई। फिर भी अधिकांश मात्रा में वैष्णवजन विरक्त जीवन ही व्यतीत करना पसंद करते हैं। ऐसे वैखानसों में आलंवदार, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, रामानन्द आदि की गणना की जा सकती है। आज भारत में प्रमुख चारों धामों तथा अन्यान्य तीर्थ स्थलों में स्थापित वैष्णव पीठों या वैष्णव मठों में इन्हीं वैखानसों का बोल बाला है। गुप्त अभिलेखों में इस सम्प्रदाय का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

(ड) भागवत सम्प्रदाय

विष्णु की उपासना पर बल देने वाले वैष्णव धर्म का दूसरा नाम भागवत अथवा पांचरात्र सम्प्रदाय भी है। पाराशर की सम्मति में भागवत का पर्यायवाची नाम सात्वत है[1] जिसका अर्थ भगवान के भक्त अर्थात् भागवत

---

१. विष्णुसहस्रनाम भाष्य (पाराशर भट्ट) पृ० ४६५ वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण

है। महाभारत के अनुसार भागवत, सात्वत अथवा वृष्णि कृष्ण की उपासना भगवान के रूप में किया करते थे। देवकी के पुत्र कृष्ण का उल्लेख उपनिषदों में मिलता है।[1] वासुदेव कृष्ण की पूजा पहले यदुवंशी सात्वतों में एक महापुरुष के रूप में प्रचलित हुई, धीरे-धीरे इन्हें देवता या भगवान मान लिया गया। इनके उपासक भागवत कहलाने लगे। इस धर्म का प्रचार ई० पू० दूसरी शती में प्रचुर मात्रा में हुआ। विदेशी यूनानियों पर भी इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। वे इसके अनुयायी भी बने। यूनानी नरेश का दूत हेल्योडोरस अपने को बेसनगर के गरुड़ध्वज स्तम्भ में परम भागवत[2] कहता है। इस भागवत धर्म का विकास क्रमशः होता ही रहा एवं गुप्त काल के आते तक इसका विकासमयी रूप परिलक्षित होता है। गुप्त नरेशों ने वैष्णव धर्म को स्वीकार किया था और यही कारण है कि वे अपने अभिलेखों[3] तथा मुद्राओं[4] में अपने को परमभागवत कहते हुए पाये जाते हैं।

४. वैष्णव धर्म की प्रतिमाओं व मन्दिरों का निर्माण

विष्णु की पूजा तथा आराधना के साथ साथ उसकी प्रतिमाओं का भी निर्माण प्रारम्भ हुआ और विष्णु के उपासक विष्णु की प्रतिमा का निर्माण कर पूजा करना प्रारम्भ कर दिये थे। पाणिनि के काल से ही विष्णु की प्रतिमा का निर्माण कार्य प्रारम्भ हो चुका था एवं उनके उपासक की भी चर्चा प्राप्त होती है। पाणिनि के काल तक वैष्णव सम्प्रदायों का महत्त्व बढ़ गया था और वैष्णवों के पूज्यदेव विष्णु माने गये। अपने अपने सम्प्रदाय के विशिष्ट देवों के रूप में अनेक प्रतिमाओं की उपासना होने लगी थी।[5] अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ई० पू० दूसरी शती में यूनानी नरेश के दूत हेल्योडोरस ने वैष्णव धर्म के प्रति श्रद्धा होने के कारण

---

१. उपनिषद् ३.१७.४-६
२. हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इंस्क्रिप्शंस, पृ० ४८
३. का० इ० इ० भाग ३, पृ० २७, ३७, ४०, ४१, ४३, ५०, ५३
४. गुप्तकालीन मुद्राएं, पृ० ८७, १५४, १७६
५. ए० हि० आ० व० १ भाग १ सू०, पृ० २५ (गो० ना० राव०)

गरुड़ स्तम्भ का निर्माण कराया था।[1] इस स्तम्भ का निर्माण विष्णु मन्दिर के सामने किया गया था और उस मन्दिर में विष्णु प्रतिमा भी रही होगी। प्रथम शताब्दी के प्रारंभिक काल में मथुरा में शासन करने वाले महाक्षत्रप व शोडास के समय मोराकूप अभिलेख में एक विदेशी महिला तोसा द्वारा एक प्रस्तर मन्दिर में विष्णु की पांच प्रतिमाओं को स्थापित किया गया था।[2] इस प्रकार आभिलेखिक एवं साहित्यिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि पाणिनि के काल से ही वैष्णव धर्म से संबंधित प्रतिमाओं का निर्माण प्रचुर मात्रा में होने लगा था और क्योंकि गुप्त नरेश वैष्णव धर्मावलम्बी थे इसीलिए वैष्णव प्रतिमाओं का निर्माण इनके काल में प्रचुर मात्रा में हुआ। गुप्त काल से ही इन देवी देवताओं की प्रतिमा के लिये देवालय और मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। कतिपय विद्वानों का मत है कि विष्णु से संबंधित कुछ पुराणों की रचना भी गुप्त काल में हुई थी।

गुप्त काल के आस पास व उसके कुछ पूर्व नारायण, विष्णु, वासुदेव के समन्वित धर्म में एक नये तथ्य अवतारवाद का प्रवेश हुआ और विष्णु के विभिन्न अवतारों की कल्पना की गई। डा० परमेश्वरीलाल गुप्त का मत है कि प्रारंभ में विष्णु के चार अवतारों की कल्पना की गई जिसमें वराह, नृसिंह, वामन, वासुदेव कृष्ण को स्थान मिला। फिर अवतारों की संख्या बढ़ कर चार से छः हुई जिसमें परशु (भार्गव) व दाशरथि राम सम्मिलित किये गये। तदनन्तर अवतारों की एक तीसरी सूची प्रस्तुत हुई जिसमें दस अवतारों की कल्पना की गई।[3] दस अवतारों की चर्चा अनेक पुराणों में भी प्राप्त होती है जिसमें वराह पुराण, अग्नि पुराण, वायु पुराण, मत्स्य पुराण आदि उल्लेखनीय हैं।[4] गुप्त कालीन अभिलेखों व पुरातात्त्विक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि गुप्त काल में भी दस अवतारों

---

१. हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इंस्क्रिप्शंस, पृ० ४४
२. ए० इ० भाग २४, पृ० १९४-२००
३. गुप्त साम्राज्य (डा० परमेश्वरीलाल गुप्त), पृ० ४८४
४. वराह पुराण ४।२, अग्नि पुराण ४९।१-१७, वायु पु० ९८।७१, म० पु० ४७।४६-५०.

से संबंधित प्रतिमाओं का निर्माण होता था और उपासना भी प्रचलित थी। इसमें कुछ अवतारों की चर्चा गुप्त नरेशों के अभिलेखों में भी प्राप्त होती है जिससे दस अवतारों की कल्पना की जा सकती है।

वामन, मत्स्य, कूर्म, वराह एवं नृसिंह आदि विष्णु के अवतारों की प्रतिमा भरतपुर राज्य के कमन नामक स्थान से प्राप्त हुई है।[1] इसमें वराह अवतार की प्रतिमा अन्य स्थानों से भी प्राप्त हुई है। उदयगिरि नामक स्थान में वराह अवतार की विष्णु प्रतिमा का चित्रण गुफा नं० ५ में हुआ है तथा सागर के एरण नामक स्थान में पशु रूप में वराह की एक विशाल मूर्ति प्राप्त हुई है। विदिशा के बड़ोह पठारी नामक स्थान में पशु रूप में वराह भगवान की मूर्ति मिली है। उसके सारे शरीर में देवी देवता, ऋषि मुनि आदि का अंकन है। यह प्रतिमा गुप्त काल की है। यहाँ एक विशाल गरुड़ध्वज भी प्राप्त हुआ है जो विष्णु मन्दिर के सामने निर्मित किया गया था। अभिलेखों से भी ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में वराह की पूजा व प्रतिमा का निर्माण होता था। कुमार गुप्त के दामोदर ताम्रपत्र[2] में वराह के लिये दान की चर्चा प्राप्त होती है। इन सभी से अनुमान किया जा सकता है कि वराह अवतार से संबंधित मूर्तियों तथा मंदिरों का निर्माण गुप्त काल में होता था। विष्णु के राम अवतार की चर्चा भी गुप्त काल के अभिलेखों से प्राप्त होती है। राम का उल्लेख गढ़वा के अभिलेख[3] में चित्र-कूट स्वामिन् के रूप में प्राप्त होता है जो राम के लिये ही संबोधित किया जाता है। अतः उससे राम अवतार की कल्पना की जा सकती है। इस अभिलेख में विष्णु प्रतिमा का उल्लेख है जो तिथि १४८ में उत्कीर्ण किया गया था और यह समय स्कंदगुप्त के शासन काल का था। राम से सम्बन्धित अनेक प्रतिमाओं का चित्रण गुप्त काल के देवगढ़ के दशावतार मन्दिर व नचना नामक स्थान के मन्दिर में प्राप्त होता है। स्कन्दगुप्त के बिहार अभिलेख[4] में विष्णु को इन्द्र का अनुज कहा गया है जो वामन अवतार का

---

१. गुप्त लेक्चर्स (बैनर्जी) पृ० ११३
२. ए० इ० भाग १५ पृ० १२६
३. का० इ० इ० भाग ३ पृ० २६८
४. वही पृ० ४६

द्योतक है। इसी प्रकार विष्णु के नृसिंह अवतार से सम्बन्धित विष्णु प्रतिमा उदयगिरि नामक स्थान की गुफा नं० १२ से प्राप्त हुई है जो गुप्त कालीन है। एरण में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने विष्णु मन्दिर का निर्माण करवाया था जिसमें एक ओर नृसिंह एवं दूसरी ओर वराह के मन्दिर का निर्माण हुआ है। इस प्रकार पुरातात्त्विक एवं आभिलेखिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि गुप्त काल में विष्णु के दस अवतारों से सम्बन्धित मूर्तियों का निर्माण हुआ जो वैष्णव धर्म से सम्बन्धित थीं। इसके अतिरिक्त विष्णु की अनेक प्रतिमाओं का भी निर्माण गुप्त काल में हुआ। उदयगिरि की गुफा नं० ३,६ और १९ में निर्मित हुई है। इसी स्थान में विष्णु की १२ फुट लम्बी शेष-शायी विष्णु प्रतिमा गुफा नं १३ में अंकित है। मध्य प्रदेश के कई प्राचीन नगरों पद्मावती (पावापुर), लुम्बवन (तुमैन), उच्चकल्प (सतना). श्रीपुर (सिरपुर) का शेषशायी विष्णु भी उल्लेखनीय है: राजिम में भी विष्णु की अनेक प्रतिमाओं का निर्माण गुप्त नरेशों के काल में हुआ था। इन सब में तुमैन एवं पवाया से प्राप्त विष्णु की प्रतिमा मूर्ति शास्त्र के क्रमिक विकास के अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। विष्णु की मूर्तियाँ इस काल में द्विभुजी, चतुर्भुजी अष्टभुजी भी मूर्तित की गई हैं। गदा और चक्रधर विष्णु द्विभुजी हैं। इस प्रकार की मूर्ति रूपवास (भरतपुर) से प्राप्त हुई है जिसे बैनर्जी महोदय ने चक्रधर विष्णु कहा है। चतुर्भुजी विष्णु की प्रतिमा उदयगिरि, सिरपुर आदि स्थानों से प्राप्त हुई है तथा अष्टभुजी विष्णु की प्रतिमा मथुरा क्षेत्र से प्राप्त हुई है। अष्टभुजी विष्णु की खण्डित प्रतिमाएं कदाचित् गुप्तकालीन हैं।

गुप्त काल में चतुर्व्यूह से संबंधित विष्णु प्रतिमा का भी निर्माण हुआ। ये प्रतिमाएं वासुदेव कृष्ण, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध इन चार रूपों में प्राप्त होती है। वासुदेव की प्रतिमा चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की उदयगिरि गुफा से प्राप्त हुई है जो विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित वासुदेव के रूप से मिलती है।[1] संकर्षण अनिरुद्ध और प्रद्युम्न के रूप की प्रतिमा मथुरा से प्राप्त हुई है जिसमें आयुध धारी विष्णु के कन्धे तथा सिरे के पीछे से आकृतियां उद्भूत होती अंकित की गई हैं। विद्वानों ने इन आकृतियों की पहचान संकर्षण,

---

१. डेव्हलपमेन्ट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी (बैनर्जी), पृ० ४००

अनिरुद्ध और प्रद्युम्न के रूप में अनुमान से की है। इस प्रकार विष्णु के चतुर्व्यूह रूप की प्रतिमाएं भी प्राप्त होती हैं। गुप्त काल में विष्णु के वाहन गरुड़ का मानसी रूप में स्वतन्त्र मूर्तन भी मिलता है। एरण के ध्वज स्तम्भ के शीर्ष के रूप में गरुड़ का मानवी रूप में अंकन हुआ है। वहाँ वे दोनों हाथों से सर्प को पकड़े हुए हैं एवं सिर के पीछे वक्राकार प्रभामण्डल है। हरिहर अर्थात् विष्णु के साथ आधा अंग शिव का मिला रूप में कतिपय मूर्तियों का निर्माण भी गुप्त काल में हुआ है। विदिशा से प्राप्त एक हरि-हर की गुप्तकालीन मूर्ति दिल्ली राष्ट्रीय संग्रहालय में है। इसी प्रकार हरिहर की चतुर्भुजी मूर्ति प्रयाग संग्रहालय में है तथा मुण्डेश्वरी (जिला शहबाद) से प्राप्त हरिहर की एक मूर्ति पटना संग्रहालय में सुरक्षित है। इन मूर्तियों में शिव तथा विष्णु में भिन्नता जटाजूट-मुकुट तथा हाथों में धारण किये हुये आयुधों से स्पष्ट होती है। इस प्रकार गुप्त काल में शिव एवं विष्णु को समन्वित रूप में भी प्रस्तुत किया जाता था। पुरातात्त्विक एवं आभिलेखिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि गुप्त काल में वैष्णव धर्म से संबंधित अनेक मूर्तियों का निर्माण हुआ था।

गुप्त नरेशों के अभिलेखों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि गुप्त काल में वैष्णव धर्म से सम्बन्धित अनेक मन्दिरों व प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। स्कन्द गुप्त के शासन काल में विष्णु की प्रतिमा का निर्माण किया गया जिसकी चर्चा भीतरी अभिलेख[१] में है तथा गढ़वा अभिलेख में[२] विष्णु के एक मन्दिर के निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है। अध्येय अभिलेखों में हमें विष्णु के विभिन्न नाम भी प्राप्त होते हैं जिनमें चक्रभृत्[3] आत्मभू[४] चित्रकूट

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ५४
२. वही पृ० २६८, ६१, ७६
३. वही पृ० ६२
४. वही पृ० ५१

स्वामिन्,[1] गदाधर,[2] गोविन्द,[3] जनार्दन,[4] मधुसूदन,[5] शार्ङ्गपाणि[6] आदि उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार वैष्णव धर्मावलम्बी गुप्तों के काल में वैष्णव धर्म का प्रचुर मात्रा में प्रचार एवं विकास हुआ तथा अनेक प्रकार की विष्णु प्रतिमाओं का भी निर्माण अनेक क्षेत्रों में हुआ।

५. वैष्णव प्रतिमा-पूजा विधि

गुप्त काल में वैष्णव धर्म के राज्याश्रित होने के कारण वैष्णव मन्दिरों के निर्माण, विकास एवं परिवर्धन का प्रयास जारी रहा। गुप्तों के अभिलेखों से इस बात की पुष्टि होती है कि उस काल में अनेक विष्णु मन्दिरों का निर्माण हुआ।[7] उस काल में वैष्णव धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा विष्णु मन्दिरों में पूजा विधि सम्पन्न की जाती थी और उसके लिये राजाओं तथा राजपुरुषों द्वारा राजकीय सहयोग (गांव या दीनार के रूप में) उपलब्ध कराया जाता था।[8] गुप्त अभिलेखों में अनेक स्थलों पर इस बात की चर्चा की गई है कि वैष्णवधर्मावलंबी भक्तजन पूजा के लिये एवं शिक्षागृह से सम्बन्धित ब्राह्मणों के संघ के लिये दान दिया करते थे।[9] भिक्षागृह की स्थापना मन्दिरों में होती थी।[10] वैष्णव मन्दिरों में पूजा विधि को सुचारु रूप से संचालित करने के लिये एक विशेष समिति गठित होती थी, जिसका मुख्य अधीक्षक कोई विशिष्ट राजकीय अधिकारी होता था। नियमित पूजा विधि में बाधा उपस्थित होने पर जिम्मेदार मठाधीश या मन्दिर पूजकों को

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० २६५
२. वही पृ० ५७
३. वही पृ० ६१
४. वही पृ० ८६
५. वही पृ० ५७
६. वही पृ० ५४,८३
७. वही ६१, ७६
८. वही पृ० ५०, ५४, २६८
९. वही पृ० ३१, ३८, २६१
१०. वही पृ० ४४

या तो दण्डित किया जाता था या उन्हें उस पद से हटा दिया जाता था। अभिलेखों में धर्म की शाखा में व्यवधान उपस्थित करने वाले को पांच महा-पातकों के अपराध का भागी होना बतलाया गया है।[१]

विष्णु पूजा को लोकप्रिय बनाने के लिये मन्दिरों में स्थायी निधि की व्यवस्था की गई थी। उसमें मन्दिरों के लिये द्रव्य दान में (दीनार), भूमिदान आदि से प्राप्त ब्याज के द्वारा कोष संचित किया जाता था। इस संचित राशि से मंदिरों की व्यवस्था, विशिष्ट पर्वों पर सामूहिक उत्सव, नृत्य प्रदर्शन तथा रथ यात्रा आदि जुलूस की व्यवस्था सम्पन्न होती थी और उसी स्थायी राशि के माध्यम से दैनिक पूजा, भोग, आरती तथा भगवान का शृंगार एवं शयन व्यवस्था आदि पूजा कार्य चलाया जाता था। विभिन्न महत्त्वपूर्ण अवसरों पर तथा राजा के परिवार में या अन्य किसी संभ्रांत नागरिक या राजकीय अधिकारी के कुटुम्ब में पड़ने वाले विभिन्न उत्सवों के अवसरों पर विष्णु मन्दिरों की सफाई, पुताई, मरम्मत[२] एवं नवीन ध्वजारोहण और यज्ञीय स्तंभ स्थापना का कार्य सम्पन्न होता था।[३]

विष्णु मंदिरों में पूजा के कार्य की स्थिरता एवं लोकप्रियता के लिये नियमित पुजारी तथा महंत या मठाधीश नियुक्त किये जाते थे। छोटे मंदिरों में पुजारी की नियुक्ति होती थी जिसे निश्चित तथा नियमित रूप से मासिक वेतन मिलता था तथा समस्त राजकीय कर से उसे माफ कर दिया जाता था। इन ब्राह्मण पुजारियों को गांव देने की चर्चा अभिलेखों में प्राप्त होती है[४] जो सभी प्रकार के करों से मुक्त होते थे। राजकीय धार्मिक सभाओं तथा धार्मिक निर्णयों में ये पुजारी महत्त्वपूर्ण सदस्य होते थे। उसी तरह बड़े बड़े लोकप्रिय विष्णु मन्दिरों की संचालन व्यवस्था को सुस्थिर बनाने के लिये महंतों या मठाधीशों की नियुक्ति होती थी। ये महंत या मठाधीश किसी न किसी विद्या में और राज्य संचालन

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ३८, ४०,४१
२. ए० इ० भाग २१ पृ० ६८
३ का० इ० इ० भाग ३ पृ० ४४, ४६
४. वही पृ० २६८

में पारंगत होते थे। कभी कभी इन ब्राह्मण मठाधीशों को राजा, राजा की माता, सेनापति, प्रधानामात्य या अन्य किसी राजकीय अधिकारी की ओर से पर्याप्त भूमिदान भी मिल जाता था।[१] कभी राजा की ओर से मन्दिरों की स्थाई निधि के रूप में पर्याप्त भूमि एवं गायें मन्दिर के नाम से लिख दी जाती थी[२] और उसका स्वामित्व मठाधीश पर रहता था। कभी कभी इन मठाधीशों को राजकीय पुरस्कार के रूप में कई ग्रामों का आधिपत्य भी प्रदान किया जाता था। गुप्तों के तथा गुप्त काल के अनेक ताम्रपत्र अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों को दीनार व भूमिदान पूजा आदि कार्यों के लिये दिया जाता था। वह गांव सभी प्रकार के करों से मुक्त होता था तथा उस गांव में नियमित तथा अनियमित दोनों प्रकार की सेनाओं का प्रवेश निषिद्ध होता था।[३] गुप्त काल से ही मठाधीश शासकों की परम्परा २०वीं शती तक चलती आ रही है।

वैष्णव मन्दिरों में विष्णु पूजा के विभिन्न उपकरणों (धूप, दीप, नैवेद्य एवं घी आदि) के लिये भी कुछ स्थायी निधि आदि को अर्पित करने के ... ति ... नाण अभिलेखों में प्राप्त होते हैं।[४] विष्णु मन्दिरों में विष्णु पूजा की प... ि वैदिक एवं पौराणिक शैली की थी क्योंकि अवतारवाद से सम्बन्धित मूर्तियों के प्रमाण अभिलेखों में मिलते है।[५] परम्परा से चली आ रही पूजन पद्धति में सोलह उपचारों, जैसे देवता के ध्यान के बाद अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय, वस्त्र, यज्ञोपवीत, चन्दन (गंध), पुष्प, अक्षत, धूप (अगरबत्ती), दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, दक्षिणा, आरती एवं प्रदक्षिणा का प्रयोग अत्यन्त सावधानी से सुरक्षित था। कतिपय उपचारों की चर्चा अभिलेखों में प्राप्त होती है। इस विधि को जीवित रखने के लिये गुप्त शासकों ने राजकीय दान घोषित किये थे।[६] इस तरह हम देखते हैं कि गुप्तकाल में वैष्णव पूजा की विधि वैदिक

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० २५६
२. वही पृ० ५४
३. वही पृ० ११६, १२८
४. वही पृ० ५०, २६८
५. वही पृ० १५६, २६८
६. वही पृ० ३८, ४० ४१, ५१, ५४

परम्परा की जीवन्त साक्षिणी थी जिसमें तत्कालीन समाज की धार्मिक रुचि, मनोरंजन प्रियता तथा धार्मिक सहिष्णुता की सुरभि प्राप्त होती है।

६. वैष्णव धर्म की गुप्तकाल में उपयोगिता और प्रभाव

यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि किसी भी प्रमुख व्यक्ति द्वारा अपनाया गया मार्ग औरों के लिये अनुकरणीय होता है। ठीक यही बात किसी भी धर्म के लिये चरितार्थ होती है। राज्य के द्वारा मान्य राज्याश्रित धर्म अधिकारियों एवं देशभक्त प्रजाओं के लिये स्वीकार्य हो जाता है। गुप्तकाल में वैष्णव धर्म के राज्याश्रित होने के कारण राजकीय कर्मचारियों तथा प्रजाओं ने इस धर्म का हार्दिक भाव से स्वागत किया। वैष्णव धर्म से सम्बन्धित, उट्टंकित विभिन्न अभिलेख[1] इस बात के साक्षी हैं कि इस समय कण-कण में वैष्णव धर्म की गरिमा व्याप्त थी। इस तरह वैष्णव धर्म के राज्याश्रित होने पर विशिष्ट प्रभाव अनेक क्षेत्रों में परिलक्षित होते है।

धार्मिक साहित्य के आधार पर विष्णु एक वीर और प्रतापी देव के रूप में चित्रित मिलते हैं। अतः वीर एवं प्रतापी गुप्त नरेशों ने विष्णु को ही शासन का प्रमुख देव माना जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रजाओं में कायरता का अभाव हुआ तथा लोगों में वीरता एवं साहस के भाव जगे। गुप्तों ने सिक्कों पर गरुड़ध्वज का चिह्न[2] अंकित कराया जो इस बात का प्रतीक है कि जिस प्रकार गरुड़ नागों का विजयी शत्रु होता है उसी प्रकार गुप्त नरेश भी अपने शत्रु रूपी नागों के लिये गरुड़ तुल्य विजयी थे। स्कन्द गुप्त के जूनागढ अभिलेख[3] में स्कन्द गुप्त को शत्रुओं के लिये गरुड़ सदृश कहा है। गुप्त नरेशों ने विष्णु के अनन्त गुणों में जय को विशिष्ट समझा क्योंकि वे जय कामना करने वाले थे अतः अभिलेखों का प्रारम्भ विष्णु की जय से किया करते थे।[4]

---

१. का० इ० इ० भाग पृ० २५, ४४, ७४, ८६

२. गुप्तकालीन मुद्राएं ६०, ६८

३. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ५६

४. वही पृ० ५६

गुप्त शासकों की वैष्णव परक नीति ने राज्य के प्रमुख भू-भागों में वैष्णव धर्म से सम्बन्धित लोकप्रिय मन्दिरों की स्थापना की।[1] वैष्णव धर्म की शिक्षा-दीक्षा के लिये मठों तथा विद्यालयों की स्थापना का अनुमान किया जा सकता है। फलस्वरूप समाज का बहुत बड़ा भाग वैष्णव धर्म से अनुप्राणित हो उठा और विष्णु के विभिन्न अवतारों से सम्बन्धित देवी-देवताओं का प्रचार हुआ जिसकी पुष्टि गुप्त कालीन अनेक अभिलेखों से होती है।[2] लोगों में क्षत्रियोचित गुण जगे एवं आसुर्य भावना पर सात्त्विक भावना ने प्रभाव जमाया तथा वर्णाश्रम धर्म की नींव मज़बूत हुई। लोग अपने-अपने कर्तव्यों और अधिकारों की ओर बढ़े। वैष्णव धर्म में शक्ति का विशेष महत्त्व होने के कारण नारियों को लक्ष्मी स्वरूप समझा गया और शक्ति उपासना का संचार हुआ।

राजा के द्वारा आश्रित वैष्णव धर्म का प्रभाव राजनीति पर भी पड़ा। यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार प्रजायें वैष्णव धर्म में अनुरक्त हुईं। उच्च पदाधिकारियों ने भी विभिन्न अभिलेखों में विष्णु की स्तुतियों का अंकन कराया है।[3] वैष्णव धर्म से सम्बन्धित प्रचारकों, प्रसारकों, पुजारियों, मठाधिकारियों, ब्राह्मणों, भक्तों, कवियों, लेखकों तथा अधिकारियों को पुरस्कृत कर दान दिया गया तथा विभिन्न करों से उन्हें मुक्त किया गया।[4] मन्दिरों को राज्याश्रय प्रदान किया गया तथा मन्दिरों की सुचारु व्यवस्था के लिये भूमि एवं ग्राम दान में दिये गये। गोशालाओं एवं मठों की स्थापना की गई और मन्दिरों की देख रेख के लिये समिति का भी गठन किया गया।

वैष्णव धर्म के राज्याश्रित होने के कारण एक ओर तो मन्दिरों की व्यवस्था के लिये आर्थिक व्यय का भार पड़ा तथा दूसरी ओर देश के विभिन्न धनी नागरिकों द्वारा मन्दिरों को भेंट की गई बहुमूल्य वस्तुओं से आर्थिक कोष बढ़ा जिसके माध्यम से मन्दिर निर्माण, यज्ञ व्यवस्था तथा दान आदि

---

१. वही पृ० ४६, ६१, ७६
२. का० इ० इ० भाग ३ पृ० २४६, १४६ २६८ ए० इ० भाग १५ पृ० १२६
३. वही पृ० ७४, ८६
४. वही पृ० ५३, २५६

कार्य सम्पन्न होते थे। इसी तरह मन्दिरों में एक विशेष अंग के रूप में स्थापित गोशालाओं के माध्यम से होने वाले आर्थिक लाभ से भी विभिन्न धार्मिक कार्य सम्पन्न होते थे। प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार संक्षिप्त धन राशियों को धर्म सम्पत्ति की संज्ञा दी गई है।

वैष्णव धर्म की प्रमुखता के कारण विभिन्न साहित्यिकों ने वैष्णव धर्म तथा उनसे सम्बन्धित कृतियों की रचना की। कालिदास आदि उच्चकोटि के महाकवि इसी काल के कवि बने और बौद्ध एवं जैन धर्म के विभिन्न दार्शनिकों ने भी साहित्य के अनुकरण पर दार्शनिक ग्रन्थों का निर्माण किया। विभिन्न धर्म ग्रन्थों में विष्णु के महत्त्व का मूल्यांकन किया गया तथा कई पुराणों में विष्णु से सम्बन्धित प्रक्षिप्तांश जोड़े गये। विष्णु मन्दिरों तथा अन्य अभिलेखों में ललित साहित्यिक शैली में विष्णु से संबंधित पद्यों की कड़ी जुड़ी तथा मन्दिरों से सम्बन्धित विशेष अंग के रूप में विद्यालय तथा मठ खोले गये जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य द्विजातिवर्गीय बालकों को विष्णु से सम्बन्धित धर्म, दर्शन एवं आचार विचार सिखाये जाते थे। गुप्त नरेशों की सहानुभूतिपरायणता के कारण जैन, बौद्ध एवं अन्य धर्म से संबंधित बातें भी सिखलाई जाती थीं। इस तरह सम्पूर्ण समाज में शिक्षा के विकास का सुअवसर वैष्णव धर्म के कारण प्राप्त हुआ।

संक्षिप्त दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि गुप्त काल में वैष्णव धर्म को राज्याश्रय मिलने के कारण सम्पूर्ण शासन क्षेत्र में धर्म, अर्थ, सुख, समृद्धि एवं शिक्षा का व्यापक प्रभाव पड़ा तथा पारलौकिक मार्ग के साधकों को चैन से सांस लेने का सुअवसर प्राप्त हुआ। गुप्त काल वह तीर्थराज प्रयाग बन गया जिसमें "धर्म, दर्शन व साहित्य" की त्रिवेणी बहने लगी।

षष्ठ अध्याय

गुप्त नरेशों के काल में अन्य धर्म

गुप्त नरेशों ने वैष्णव धर्म को व्यक्तिगत व राजधर्म के रूप में स्वीकारा तथा उसे राज्याश्रय भी प्रदान किया । वैष्णव धर्म के प्रचार व प्रसार में स्वयं गुप्त नरेशों एवं उनके राजकीय कर्मचारियों ने तथा प्रजाओं ने भी भाग लिया था। गुप्त नरेश वैष्णव धर्मावलंबी थे पर अन्य धर्मों के प्रति भी धार्मिक सहिष्णुता का भाव दिखलाया तथा अन्य सम्प्रदायों और धर्म के प्रचार में भी बड़ा योगदान दिया था। उनके काल में अन्य धर्मों तथा सम्प्रदायों को उन्नति का यथोचित अवसर प्राप्त हुआ। उस समय अन्य धर्मों म सम्बन्धित मन्दिरों, प्रतिमाओं, स्तूपों, बिहारों आदि का निर्माणकारी कार्य स्वयं गुप्त नरेशों ने करवाया तथा राज्य की ओर से सहायता भी प्रदान की जिसकी पुष्टि आभिलेखिक व पुरातात्त्विक साक्ष्यों से होती है। गुप्त नरेशों के काल में निम्नलिखित अन्य धर्मों का भी प्रचार व विकास होता रहा।

१. शैव धर्म

गुप्त युग में वैष्णव धर्म के समान शैव धर्म भी समान लोकप्रिय था। इस समय शिव की पूजा का भी अधिक प्रचार हुआ। गुप्त नरेशों के काल में चन्द्रगुप्त द्वितीय के मन्त्री शिव भक्त वीरसेन साब ने, जो तर्कशास्त्र एवं लोक व्यवहार का ज्ञाता था, उदयगिरि गुफा में शिव के प्रति श्रद्धा होने के कारण एक गुफा का निर्माण कराया था।[१] कुमार गुप्त प्रथम के मंत्री व सेनापति पृथ्वीषेण द्वारा अयोध्या के ब्राह्मणों को दान दिया गया था जिसकी चर्चा करमदण्डा अभिलेख[२] में है। इन दोनों अभिलेखों के अनुशीलन

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ३५

२. ए० इ० भाग १० पृ० ७१

से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि गुप्तों ने शिव पूजा के प्रति केवल सहिष्णुता का ही भाव नहीं दिखलाया था अपितु शिव के भक्तों को अपने राज्य में ऊँचे पद भी प्रदान किए। इन उल्लेखों के अतिरिक्त गुप्तों के अभिलेखों में शिव की अनेक प्रतिमाओं का निर्माण एवं पूजा की चर्चा भी प्राप्त होती है जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा अभिलेख[1] में शिव पूजा का उल्लेख, कुमार गुप्त प्रथम के बिल्सड अभिलेख[2] में ब्राह्मण ध्रुवशर्मन् द्वारा महासेन के मन्दिर में दान देने का वर्णन, बुधगुप्त के दामोदरपुर ताम्रपत्र लेख[3] में एक नाम लिंग के निमित्त भूमि क्रय करने का उल्लेख, पुरुगुप्त के विहार अभिलेख[4] में कार्तिकेय की चर्चा जिसमें शैव सम्प्रदाय के उपासक द्वारा मंदिर निर्माण किया गया था तथा वैन्यगुप्त के अभिलेख[5] में महादेव की स्तुति से अभिलेख का प्रारम्भ उल्लेखनीय है। कुछ अभिलेखों में शिव का उल्लेख प्रत्यक्ष रूप से हुआ है परन्तु कुछ वर्णन अप्रत्यक्ष रूप से शिव से सम्बन्धित हैं जो शैव धर्म ही हैं। इस प्रकार हम देखते है कि गुप्त नरेशों के काल में शैव धर्म भी पर्याप्त उन्नतशील अवस्था में था। इसके अतिरिक्त पुरातात्त्विक साक्ष्यों से भी ज्ञात होता है कि इस काल में अनेक प्रतिमाएँ निर्मित की गई थीं। इस समय शिव की मूर्तियों का निर्माण लिंग के रूप में किया गया है जिसमें एकमुख लिंग और बहुमुखलिंग भी होता था। इस काल में एकमुख लिंग अधिक प्राप्त हुए हैं जिनमें खोह व भूमरा से प्राप्त शिवलिंग के मुख में मस्तक के बीच खुदा तीसरा नेत्र है तथा सिर में बँधे जटाजूट के समान दोनों ओर लहराती जटाएँ हैं। शिव का दोमुखी लिंग मथुरा के संग्रहालय में है तथा पंचमुख लिंग भी अधिक मात्रा में प्राप्त हुए हैं जिनमें इन मुखों का तात्पर्य सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, ईशान से है। गुप्त कालीन अष्टमुखी लिंग के मध्य भाग में चार मुख और चार मुख नीचे निम्न भाग

---

१. इ० हि० क्वा० भाग १८, पृ० २७१
२. का० इ० इ० भाग ३, पृ० ४३
३. ए० इ० भाग० १५, पृ० १३९
४. का० इ० इ० भाग० ३, पृ० ४७
५. इ० हि० क्वा० भाग ६, पृ० ४५

में हैं। इस काल में शिव की मानवाकार प्रतिमा कम प्राप्त हुई हैं। शिव अकेले एवं परिवार के साथ भी निर्मित किए गए हैं। एकाकी शिव का अंकन लकुलीश के रूप में मथुरा के स्तम्भ पर हुआ है जिस पर चन्द्रगुप्त द्वितीय का एक अभिलेख भी उत्कीर्ण है। परिवार सहित शिव का अंकन उदयगिरि की चट्टान में एक स्थान पर हुआ है तथा गण सहित शिव मन्दसौर के दुर्ग में हैं। शिव का अंकन अर्ध रूप में भी हुआ है जिसमें आधा शरीर शिव का एवं आधा शरीर पार्वती का है। इस प्रकार की अर्धनारीश्वर की दो मूर्तियाँ मथुरा संग्रहालय में हैं। शिव का अर्धस्वरूप अर्थात् आधा शरीर हरि तथा आधा शरीर शिव का भी इस समय प्राप्त हुआ है जिसमें हरिहर की उदयगिरि से प्राप्त गुप्त कालीन मूर्ति दिल्ली के संग्रहालय में सुरक्षित है। हम देखते हैं कि गुप्त काल में शिव एवं विष्णु में समन्वय स्थापित किया गया है जो कि इसके पूर्व में नहीं दिखलाई देता।

गुप्तों के अभिलेख में शिव के अनेक नाम भी प्राप्त होते हैं जिससे ईश[१], कोकमुखस्वामी,[२] पशुपति,[३] शंभ,[४] महादेव,[५] पृथ्वीश्वर,[६] माहेश्वर,[७] शिव,[८] रुद्र,[९] आदि उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार आभिलेखिक व पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर गुप्त काल में शैव धर्म के प्रसार, प्रचार व विकास का ज्ञान किया जा सकता है।

२. सौर धर्म

सूर्य की उपासना पद्धति देवता के रूप में वैदिक काल से चली आ रही

---

१. का० इ० इ० भाग ३, पृ० ८३
२. ए० इ० भाग १५, पृ० १३८
३. का० इ० भाग १५, पृ० १६
४. वही, पृ० ३५
५. इ० हि० क्वा० भाग ३, पृ० ४५
६. का० इ० इ० भाग ३, पृ० ७१
७. इ० हि० क्वा० भाग १८, पृ० २७१
८. का० इ० इ० भाग ३, पृ० ८३
९. इ० हि० क्वा० भाग ३, पृ० २७१

है जिसे हम मित्र व सविता सूक्तों में देख सकते हैं। गुप्त नरेशों के काल में भी वैष्णव धर्म के अतिरिक्त सूर्योपासना का प्रमाण उनके अभिलेखों में प्राप्त होता है। गुप्त शासकों ने सूर्य मन्दिरों का निर्माण करवाया था। कुमार गुप्त ने एक सूर्य मन्दिर का निर्माण मन्दसौर में करवाया था तथा उसी के द्वारा जीर्णोद्धार भी हुआ था जिसकी चर्चा मन्दसौर के अभिलेख[1] में प्राप्त होती है। इसी प्रकार स्कन्द गुप्त ने भी एक सूर्य मन्दिर में दीप जलाने हेतु देवविष्णु नामक ब्राह्मण को धन दान में दिया था जिसका उल्लेख उसके इन्दौर ताम्रलेख[2] में है। विश्ववर्मन् के गंगधार अभिलेख[3] में भी सूर्य की चर्चा प्राप्त होती है।

गुप्त काल में प्रचलित सूर्य पूजा की पुष्टि गुप्त काल में निर्मित सूर्य प्रतिमाओं से भी होती है। इस काल की सूर्य प्रतिमाएँ दो रूपों में निर्मित की जाती थीं—एक विदेशी परिधान और अलंकरणयुक्त सूर्य प्रतिमा जिसमें सूर्य स्वयं रथ पर बैठे हैं व उसके दाहिने हाथ में खंजर है। शरीर पर लम्बा वस्त्र और पैरों में ऊँचे जूते हैं तथा दूसरे प्रकार की प्रतिमा में सूर्य भारतीय परिधान व अलंकरण में है। इससे सूर्य मानवाकार स्वरूप रथ पर खड़े-बैठे हैं। रथ में सात घोड़े जुते हैं तथा अरुण का अंकन सारथि के रूप में किया गया है। सूर्य की दो पत्नियाँ प्रभा एवं छाया का भी उत्कीर्णन किया गया है। सूर्य को सप्तरश्मि कहा गया है और सूर्य जिस रथ पर सवार हैं उसमें सात घोड़े जुते हुए है जिसमें प्रत्येक घोड़ा एक एक रश्मि का प्रतिनिधित्व कर रहा है। इस प्रकार की मूर्ति काशी विश्वविद्यालय के भारत कला भवन में सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त सूर्य की प्रतिमाएँ भूमरा के शिव मन्दिर एवं कौशाम्बी से प्राप्त हुई हैं जो भव्य और सुन्दर हैं। गुप्त अभिलेखों में सूर्य के विभिन्न नाम सविता,[4] अंशुमान्,[5] भास्कर[6] आदि

---

१. का० इ० इ० भाग ३, पृ० ८३
२. वही, पृ० ७०
३. वही, पृ० ७६
४. वही, पृ० ७३
५. वही, पृ० ८३
६. वही, पृ० ७०

मिलते हैं। इस प्रकार गुप्त काल में प्रचलित सूर्य पूजा का प्रमाण आभिलेखिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों से मिलता है।

३. शाक्त धर्म

अन्य धर्म की भांति गुप्त काल में शाक्त धर्म का भी प्रचार था। सप्तमातृका देवी के नामों का उल्लेख अभिलेखों में प्राप्त नहीं होता परन्तु उनके नेतृत्व में यज्ञीय स्तम्भ की स्थापना का उल्लेख स्कन्दगुप्त के बिहार अभिलेख[1] में है तथा विश्ववर्मन् के गंगधार अभिलेख[2] से ज्ञात होता है कि राजा के सचिव ने एक भयानक निवासगृह बनवाकर उसे मातृका देवियों की डाकिनियों से आवासित करवाया था अर्थात् सप्तमातृका के लिए उसने एक मन्दिर बनवाया था।

गुप्त काल में निर्मित अनेक सप्तमातृका देवी की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। विदिशा के समीप उदयगिरि गुहा में गुप्त काल की सप्तमातृकाओं, चण्डिका, माहेश्वरी, ब्रह्माणी, कौमारी, वाराही, नारसिंही तथा वैष्णवी की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। उड़ीसा की सरायकेला से सप्तमातृकाओं की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। सप्तमातृकाओं के अतिरिक्त महिषमर्दिनी दुर्गा की भी अनेक गुप्तकालीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनमें देवी छःभुजी, अष्टभुजी, बारहभुजी आदि हैं। छ:भुजी महिषमर्दिनी की एक मूर्ति भूमरा से प्राप्त हुई है। उदयगिरि, भिलसा तथा भारत कला भवन में सुरक्षित महिषमर्दिनी दुर्गा की मूर्ति अष्टभुजी है। इस प्रकार हम देखते है कि गुप्त काल में शाक्त धर्म (देवी पूजा) का भी प्रचार था जिसकी पुष्टि आभिलेखिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से होती है।

४. गणेश

देव परिवार में गणेश की मांगलिक देवता के रूप में प्रतिष्ठा है। कतिपय विद्वानों में श्री एलियस गेटी, आचार्य क्षितिमोहन सेन और सम्पूर्णानन्द ने गणेश को आर्येतर जातियों का उपास्य देव माना है। कुछ विद्वानों ने गणेश की मूल परिकल्पना को वैदिक साहित्य में भी खोजने का प्रयत्न किया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त काल तक गणेश लोक मानस में अपना कोई स्थान न बना सके थे। परन्तु हम देखते हैं कि गुप्त काल में

---

१. का० इ० इ० भाग ३, पृ० ४६

२. वही, पृ० ७६

गणेश की पूजा प्रारम्भ हो गई थी। यद्यपि गुप्त अभिलेखों में गणेश व गणेश पूजा का कहीं भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता तो भी गुप्त काल में निर्मित गणेश की मूर्तियों से गणेश पूजा का भलि भांति अनुमान किया जा सकता है। कतिपय विद्वानों का मत है कि गणेश की प्रतिमाओं का निर्माण गुप्त काल से ही प्रारम्भ हुआ। इस काल में निर्मित गणेश की प्रतिमा उदयगिरि से प्राप्त हुई है जोकि बनावट में प्रारंभिक अवस्था की प्रतीत होती है। भूमरा से भी एक गणेश की मूर्ति प्राप्त हुई। इस प्रकार प्राप्त मूर्तियों से गुप्त काल में गणेश पूजा का भी अनुमान किया जा सकता है। डा० नीलकण्ठ जोशी का मत है कि गुप्त काल में गणेश प्रतिमाओं का प्रचलन बढ़ने लगा था।[1]

५. कार्त्तिकेय

गुप्त काल में अन्य देवताओं की भांति स्कन्द कार्त्तिकेय की भी पूजा-उपासना होती थी। शिव परिवार में गणेश के साथ कार्त्तिकेय का भी नाम पुत्र के रूप में प्राप्त होता है। कार्त्तिकेय का सर्वप्रथम उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है। कार्त्तिकेय युद्ध के देवता या सेनापति के रूप में पूजे जाते थे। इनके अनेक नाम भी प्राप्त होते हैं जिनमें कुमार, स्कन्द, विशाख, महासेन आदि उल्लेखनीय हैं। पतंजलि के महाभाष्य के बाद कार्त्तिकेय का अंकन कुषाणों की मुद्राओं में प्राप्त होता है तथा यौधेयों ने उन्हें मुख्य रूप से अपने सिक्कों में अपनाया। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त काल के पूर्व भी स्कन्द कार्त्तिकेय की पूजा व उपासना होती थी और उसका अंकन मुद्राओं में भी होने लगा था।

गुप्तकालीन अभिलेख व पुरातात्त्विक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि शिव परिवार में तथा स्वतंत्र रूप से भी कार्त्तिकेय की पूजा उपासना होती थी। गुप्त नरेश कुमार गुप्त के बिल्सड अभिलेख[2] में महासेन (कार्त्तिकेय) के एक मंदिर में प्रतोली निर्माण कराये जाने का उल्लेख आया है तथा

१. मथुरा कला पृ० ७४

२. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ४२

स्कन्द गुप्त के विहार अभिलेख[1] में भी स्कन्द (भगवान) व देवी माताओं के नेतृत्व मे यज्ञिय स्तम्भ की स्थापना कराये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। गुप्त काल में कार्त्तिकेय की पूजा तथा उपासना का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि गुप्त नरेशों ने अपना नाम भी कार्त्तिकेय के नाम पर रखा जैसे—कुमारगुप्त प्रथम, स्कन्दगुप्त, कुमारगुप्त द्वितीय आदि। इन नरेशों की मुद्राओं में भी स्कन्द कार्त्तिकेय का अंकन प्राप्त होता है। कार्त्तिकेय का वाहन मोर था और अन्य देवताओं की भांति इनके वाहन मोर का भी अंकन मुद्राओं तथा कलाओं में इनके साथ व उनके स्थान पर प्राप्त होता है जो कार्त्तिकेय के वाहन होने के कारण अन्य देवताओं की भांति उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। कुमारगुप्त प्रथम के इलाहाबाद से प्राप्त सिक्कों में कार्त्तिकेय प्रकार के सिक्के भी हैं। डा० स्मिथ का मत है कि प्राप्त सभी मुद्राएँ कार्त्तिकेय प्रकार की हैं परन्तु डा० अल्तेकर इस मत से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि इनमें १३ सिक्के कार्त्तिकेय प्रकार के हैं।[2] इन प्राप्त मुद्राओं में कार्त्तिकेय का अंकन मोर पर सवार प्रभामण्डल युक्त, हाथ में भाला लिये हुए है तथा किसी किसी में मोर के रूप में प्राप्त होता है।[3]

गुप्तकाल में कार्त्तिकेय का अंकन अभिलेखों और मुद्राओं के अतिरिक्त कला में भी हुआ है। गुप्त काल में निर्मित कार्त्तिकेय की मूर्तियां अनेक स्थानों से प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियां खड़ी एवं बैठी स्थिति में हैं। कार्त्तिकेय को कुक्कुट अथवा मोर पर सवार बतलाया जाता था। इसमें गुप्तकालीन कार्त्तिकेय का मूर्तन मयूर पर सवार ही विशेष रूप से हुआ है। इस प्रकार की एक मूर्ति भारत कला भवन काशी तथा एक मूर्ति पटना संग्रहालय में है। मथुरा संग्रहालय से प्राप्त एक मूर्ति में (कार्त्तिकेय के) दांये और चतुर्मुखी ब्रह्मा कार्त्तिकेय का अभिषेक कर रहे हैं। खड़ी हुई मूर्तियों में पटना संग्रहालय में एक कार्त्तिकेय की मूर्ति है जिसके बांई ओर एक नारी आकृति अंकित है जिसके सिर में कार्त्तिकेय का हाथ है। षड्मुखी कार्त्तिकेय की मूर्ति ग्वालियर के संग्रहालय में सुरक्षित है जो ग्वालियर से ही प्राप्त हुई है। इस

---

१. वही पृ० ४६

२. गुप्त कालीन मुद्राएँ (अल्तेकर) पृ० १४३

३. वही पृ० १४३

प्रकार आभिलेखिक व पुरातात्विक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि गुप्त नरेशों के काल में कार्तिकेय की भी प्रतिष्ठा थी और उनकी पूजा तथा उपासना अन्य देवताओं की भांति होती थी।

गुप्त काल में जिस प्रकार ब्राह्मण धर्म को स्थान मिला उसी प्रकार ब्राह्मणेतर जैन धर्म को भी गुप्त नरेशों ने उत्साहित किया। इन नरेशों तथा उनके अधिकारियों द्वारा उत्कीर्ण कराये गए अभिलेखों एवं जैन तीर्थंकरों की उपलब्ध प्रतिमाओं से ज्ञात होता है कि उस युग में जैन धर्म के प्रति भी पूजा में गहरी आस्था थी। गुप्त नरेश कुमार गुप्त के द्वारा गुप्त संवत् १०६ में उत्कीर्ण उदयगिरि गुहा लेख[1] में अश्वपति शंकर के द्वारा पार्श्वनाथ की जैन प्रतिमा के निर्माण करवाने का उल्लेख प्राप्त होता है। कुमार गुप्त प्रथम के मथुरा प्रतिमा लेख[2] से ज्ञात होता है कि गुप्त संवत् ११३ में कुमार गुप्त के शासन-काल में गृहमित्र की पत्नी सामाध्या ने उस मूर्ति को प्रतिष्ठित करवाया था। स्कंदगुप्त के कहौम अभिलेख[3] से स्कंद गुप्त के काल में भद्र नामक किसी व्यक्ति द्वारा ककुह ग्राम में पांच उत्कृष्ट प्रस्तर निर्मित जैन प्रतिमाओं को बनाने की सूचना प्राप्त होती है। मूर्तियों के निर्माण के बाद उसने एक स्तंभ को भूमि में गड़वाया था। भद्र द्वारा निर्मित जैन तीर्थंकरों में आदिनाथ, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर की प्रतिमाएं थीं। इसी प्रकार बुधगुप्त के पहाड़पुर ताम्रपत्र[4] से ज्ञात होता है कि वट-गुहाली स्थित जैनाचार्य गुहनंदि के बिहार में अतिथिशाला का निर्माण किया गया तथा अर्हत की पूजा तथा आवश्यक उपादान के लिये शर्मा ने भूमिदान दिया था। इसके अतिरिक्त गुप्तवंश के नरेश रामगुप्त के शासन काल में प्रतिष्ठित तीन जैन प्रतिमाएं विदिशा से उपलब्ध हुई हैं। प्राप्त प्रतिमाओं में उत्कीर्ण अभिलेखों से ज्ञात होता है कि प्रतिमाएं चंद्रप्रभ एवं पुष्पदंत की हैं जो एकगुप्त के द्वारा बनवाई गई थीं।[5]

उपर्युक्त आभिलेखिक साक्ष्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि अन्य धर्मों

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० २५८
२. ए० इ० भाग २ पृ० २१०
३. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ६५
४. ए० इ० भाग २० पृ० ६१
५. गुप्त अभिलेख (डा० उपाध्याय) पृ० १२८

की भांति जैन धर्म का भी प्रचार एवं विकास होता रहा तथा इस काल में राजकीय सहयोग भी प्रदान किया जाता था।

७—बौद्ध धर्म

वैदिक धर्म के पुनरुद्धार होने तथा वैष्णव और शैव मत के अधिक प्रचलन होने के उपरांत भी परम भागवत गुप्त नरेशों के काल में बौद्ध धर्म उन्नत अवस्था में था। आभिलेखिक एवं पुरातात्त्विक प्रमाणों से इस बात की पुष्टि होती है कि बौद्ध धर्म के विकास के लिए गुप्तों ने राजकीय सहयोग भी प्रदान किए थे। गुप्त नरेशों के अभिलेख बौद्ध धर्म के अनुयायियों, उनकी भक्तिभावना एवं धर्मनिष्ठता पर प्रचुर मात्रा में प्रकाश डालते हैं। चंद्र गुप्त विक्रमादित्य के शासन काल में आम्रकादेव नामक एक अधिकारी ने काकनादवोट के बौद्ध बिहार को पांच भिक्षुओं के निःशुल्क भोजन और रत्नगृह में दीप जलाने हेतु २५ दीनार तथा भूमि का दान भी दिया था[1]। कुमार गुप्त के शासन काल में गुप्त संवत् १२९ में निर्मित मानकुंवर प्रतिमा लेख[2] में बुद्धमित्र द्वारा उक्त प्रतिमा को प्रतिष्ठित कराने का उल्लेख है। गुप्त संवत् २३१ के सांची अभिलेख[3] में बौद्ध धर्म की उपासिका हरिस्वामिनी द्वारा बौद्ध विहार को १२ दीनार दान देने का उल्लेख प्राप्त होता है। मथुरा से प्राप्त एक प्रतिमा में उत्कीर्ण अभिलेख से ज्ञात होता है कि बिहार स्वामिनी के द्वारा बौद्ध प्रतिमा स्थापित की गई थी तथा मथुरा से प्राप्त एक अन्य प्रतिमा में उत्कीर्ण अभिलेख[5] गुप्त संवत् १३० से ज्ञात होता है कि भिक्षुणी जयभट्टा द्वारा यशोविहार के लिए धार्मिक दान दिया गया था। कसिया अभिलेख[6] में महाविहारस्वामिन् हरिवल के द्वारा प्रतिमा स्थापित कराए जाने एवं उसके लिए समुचित दान देने का उल्लेख है। देवरिया प्रतिमालेख[7] में साम्यभिक्षु बोधिवर्मन् के धार्मिक दान की चर्चा है।

---

१. का० इ० इ० भाग ३ पृ० ३२-३३
२. वही पृ० ४५
३. वही पृ० २६२
४. वही पृ० २६३
५. वही पृ० २७४
६ वही पृ० २७३
७. वही पृ० २७२

इसके अतिरिक्त कुमार सपूत द्वितीय के काल की सारनाथ बुद्ध प्रतिमा में अभयमित्र द्वारा बुद्ध प्रतिमा स्थापित कराने का उल्लेख है [1] बुधगुप्त के काल में निर्मित एक प्रतिमा सारनाथ से प्राप्त हुई है। प्राप्त प्रतिमा में उत्कीर्ण लेख से यह ज्ञात होता है कि गुप्त संवत् १५७ में भिक्षु अभय मित्र के द्वारा उक्त प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी।[2]

उपर्युक्त आभिलेखिक साक्ष्यों के अतिरिक्त पुरातात्त्विक साक्ष्यों से भी ज्ञात होता है कि मथुरा एवं सारनाथ गुप्त काल में मूर्ति निर्माण के दो प्रमुख केन्द्र थे जहां बुद्ध की अनेक प्रतिमाओं का निर्माण हुआ था। अनेक स्थानों से प्राप्त गुप्तकालीन बुद्ध की प्रतिमाएं गुप्त काल में प्रचलित महायान सम्प्रदाय के अधिक प्रचार व प्रभाव का ठोस प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। इस काल में इन केन्द्रों से भगवान बुद्ध की विभिन्न आसनों एवं मुद्राओं में प्रतिमाओं का निर्माण किया गया था। इस प्रकार गुप्त काल में वैष्णव, शैव, जैन, आदि धर्मों की भांति बौद्ध धर्म का भी विकास हुआ जिसमें गुप्त नरेशों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान था।

---

१. गुप्त अभिलेख (डा० उपाध्याय) पृ० १६८
२. वही पृ० १७०

सप्तम अध्याय

उपसंहार

इस प्रकार समीक्षात्मक दृष्टि से गुप्त अभिलेखों में व्यंजित धार्मिक अध्ययन का एक धुंधला चित्र खींचा गया। गुप्त काल विविध ललित कलाओं एवं साहित्य सौरभ की दृष्टि से ऐतिहासिकों की कौतुकमणि, आदर दृष्टि का आमंत्रण करता है किन्तु धार्मिक दृष्टि की आभा गुप्त काल की प्रमुख विशेषता थी। इसी समय (वैष्णव आदि) भागवत धर्म का प्रचार, बौद्ध धर्म का उद्धार एवं जैन धर्म का विस्तार हुआ। यही कारण है कि शिलालेखों में गुप्त नरेश परम भागवत कहे गये हैं। सम्राट् समुद्रगुप्त का अश्वमेध यज्ञ उनकी धार्मिकता को प्रकाशित करने वाला एक लिपिहीन अभिलेख था।

वस्तुतः वैष्णव धर्म प्रधान शासन काल में भी अन्य विविध धर्मों के सांगोपांग विशिष्ट प्रचार से गुप्त नरेशों की धार्मिक सहिष्णुता, सौहार्दता एवं सामंजस्यमणिप्रतिभा का दिग्दर्शन मिलता है। वैष्णव धर्म ही एक राज्याश्रित आस्तिक धर्म था। जैन और बौद्ध नास्तिक धर्म थे किन्तु वे धर्मानुयायी शांति तथा सुख से जीवन यापन कर रहे थे। हिन्दू मन्दिरों के पास ही बौद्धों के महाविहार एवं जैनों की मूर्तियां मिली हैं। एक ब्राह्मण गुहा के पास ही बौद्ध मठ एवं जैनों की झोपड़ियां भी थीं। धार्मिक सहिष्णुता के कारण ही परस्पर विरोधी धर्मों में मात्सर्य एवं द्वेष का अभाव था। इन गुप्त नृपतियों ने नास्तिक धर्मों के प्रति जो सहानुभूति एवं सहायता प्रकट की थी वह पाश्चात्य नरेशों की भांति किसी कुचक्र से नहीं, प्रत्युत अपनी सहज अलौकिक उदारता व आदर्श चरित्र की स्वाभाविकता से की थी।

वास्तव में अन्य क्षेत्रों के विकास की भांति धर्म की दृष्टि से भी गुप्त काल स्वर्णयुग कहलाता है जिस प्रकार स्वर्ण सभी धातुओं में बहुमूल्य होता

है और अपनी देदीप्यमान कान्ति से जनता की दृष्टि को आकर्षित कर लेता है उसी प्रकार यह काल भी अनेक प्रतापी राजाओं के समुदाय एवं सर्वजनोपकारी विविध कृत्यों से प्रकाशप्रद है। इस समय भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का मार्तण्डमण्डल भारत के मध्य गगन में आलोकित हो रहा था जिसकी किरणों में प्रताप की प्रखरता नहीं, वरन् धर्म की शिथिलता थी। सम्राट् समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं स्कन्दगुप्त की दिग्-दिगंतराल में गुंजित होने वाली विजय दुंदुभि यह बता रही थी कि धर्म को शक्ति से अलग नहीं किया जा सकता और धर्मशाली शक्ति ही शक्ति है। यही कारण है कि उस समय देश भक्त नरेशों के प्रचण्ड भुजदण्डों ने आर्यावर्त में विदेशियों के पैर जमने न दिये।

धर्म जनता के हृदय का आभूषण होता है और उसका आदर करने वाला शासक जनता का हृदय से आराध्य बन जाता है। यही कारण है कि गुप्त सम्राट् भारतवर्ष में एकछत्र राज्य स्थापना की कल्पना को साकार कर सके। ऐसे ही छत्रसम्राट् अश्वमेध यज्ञ कर सकते थे। हरिषेण के शब्दों में समुद्रगुप्त "अश्वमेधपराक्रमः" था। प्रयागस्थित समुद्रगुप्त की प्रशस्ति मानो आज भी उसकी धर्म गाथा से भारत भूमि को सांत्वना दे रही है। गुप्त नरेशों के बाद महाराज हर्षवर्धन के अतिरिक्त किसी अन्य राजा में समग्र भारत को एक सूत्र में आबद्ध करने की क्षमता दृष्टिगोचर नहीं होती।

गुप्त नरेशों में भारतीय संस्कृति के सारभूत सिद्धान्त घर कर गये थे। धर्मसहिष्णुता उस समय का अलंकार था। ऐसी महानता एवं उदारता अन्य संस्कृति के इतिहास प्रांगण में दुर्लभ ही है। एक ओर औरंगजेब द्वारा लगाये गये "जजिया कर" से तड़फते हिन्दु वर्ग की कल्पना करके मन अशांत हो जाता है तो दूसरे गुप्त नरेशों के वैष्णव धर्मानुयायी होने पर भी अन्य धर्मों के प्रति समान भाव से प्रकट औदार्य, अपूर्व प्रमोद दे जाता है आर्य सभ्यता व संस्कृति की रक्षा के लिये गुप्त नरेशों ने स्वदेश, स्वभाषा एवं स्वधर्म का बीड़ा उठाया था। इस समय वैदिक धर्म का पूर्णतया विस्तार हुआ। ठीक ही है :—

शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते।

धर्म वह है जो लोगों को लौकिक व पारलौकिक कल्याण की ओर अग्रसर करे।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः

(जैमिनिसूत्र)

गुप्त अभिलेखों के आधार पर सिद्ध है कि गुप्त युग कवियों, लेखकों, दार्शनिकों, धार्मिकों, वक्ताओं, कलाकारों, शास्त्रकारों, कुशल राजनीतिज्ञों एवं शासकों का अजीब ही अजायब घर था। धर्म-साहित्य एवं दर्शन की विमल त्रिवेणी गुप्त युग रूपी प्रयागराज में पावनता का संचार कर रही थी। यही कारण है कि परवर्ती इतिहासकारों तथा समीक्षकों ने गुप्त कीर्ति का सुधापान कराकर अपनी लेखनी को अमर बनाया है। अंत में गुणज्ञ सुधी पाठकों के कर कमलों में यह पत्र प्रसून अर्पित करता हुआ मैं कविराज धोयी के शब्द सुमनों की एक भावांजलि प्रस्तुत करते हुए इस प्रबंध को उपसंहार की गोद में आसीन करता हूँ :—

यावच्छम्भुर्वहति गिरिजासंविभक्तं शरीरं
यावज्जैत्रं कलयति धनुः कौसुमं पुष्पकेतुः।
यावद्राधारमणतरुणिकेलिसाक्षी कदम्ब-
स्तावज्जीयाज्जगति विमला गुप्तवंशस्य कीर्तिः॥

(पवनदूत)

क–स्कन्दगुप्त का कहौम स्तंभ-लेख—वर्ष १४१

मान २३

गुप्त अभिलेख

समुद्र गुप्त का अभिलेख

रामगुप्त का अभिलेख

चन्द्रगुप्त द्वितीय का अभिलेख

कुमारगुप्त प्रथम का अभिलेख

१. भिलसद शिला स्तंभ लेख —गुप्त अभिलेख—वासुदेव उपाध्याय पृ० १३५
२. गढ़वालेख " " — " " " १३६
३. उदयगिरि गुहालेख " " — " " " १३७
४. धानाइदाह ताम्रपत्रलेख " " — " " " १३७
५. मथुरा लेख " " — " " " १३९
६. करमदण्डा लेख " " — " " " १४०
७. तुमैन शिलालेख " " — " " " १३९
८. कलैकुरि शिलालेख " " — " " " १४०
९. दामोदरपुर ताम्रपत्रलेख " " — " " " १४३
१०. दामोदरपुर ताम्रलेख " " — " " " १४४
११ बैग्राम ताम्रपत्र —सिलेक्ट इन्सक्रिप्शंस—दिनेश सरकार पृ० ३५५
१२. मानकुवर प्रतिमालेख— गुप्त अभिलेख—वासुदेव उपाध्याय पृ० १४५
१३. गढ़वा शिलालेख— " " — " " पृ० १४६
१४. मन्दसौर शिलालेख— " " — " " पृ० १४६

स्कन्दगुप्त का अभिलेख

१. जूनागढ़ प्रशस्ति—गुप्त अभिलेख—वासुदेव उपाध्याय— पृ० १५४
२. कहौम स्तंभ लेख " " — " " — " १६०
३. सुपिया शिलालेख— सिलेक्ट इन्सक्रिप्शंस—सरकार— " ३१७
४. इन्दौर शिलालेख —गुप्त अभिलेख —वासुदेव उपाध्याय — " १६०
५. भितरी स्तंभ लेख— " " — " " — " १६१
६. गढ़वालेख—अभिलेख संग्रह —फ्लीट

कुमारगुप्त द्वितीय का अभिलेख

१. सारनाथ प्रतिमालेख—गुप्त अभिलेख—वासुदेव उपाध्याय—पृ० १६८

पुरु गुप्त का अभिलेख

१. विहार शिलालेख—सिलेक्ट इन्सक्रिप्शंस—दिनेश चन्द्र सरकार—पृ० ३२५

बुधगुप्त का अभिलेख

१. सारनाथप्रतिमालेख—गुप्त अभिलेख—वासुदेव उपाध्याय—पृ० १७०
२. पहाड़पुरलेख—सिलेक्ट इन्सक्रिप्शंस— सरकार पृ० ३५७
३. बनारस (राजघाट) स्तम्भलेख–गुप्त अभिलेख–वासुदेव उपा० पृ० १७१
४. दामोदरपुर ताम्रपत्रलेख — " " " — पृ० १७१
५. एरण स्तम्भ लेख — " " " — पृ० १७२
६. दामोदरपुर ताम्रलेख — " " " — पृ० १७३

वैन्य गुप्त अभिलेख

१. गुणैधरताम्र—गुप्त अभिलेख—वासुदेव उपाध्याय—पृ० १७६

भानुगुप्त का अभिलेख

१. एरण स्तम्भलेख—गुप्त अभिलेख—वासुदेव उपाध्याय—पृ० १८०
२. दामोदरपुर ताम्रपत्र— " " — " " —पृ० १८१

गुप्त अभिलेख—लेखक—वासुदेव उपाध्याय (विहार ग्रन्थ अकादमी)
सिलेक्ट इन्सक्रिप्शंस — लेखक—दिनेश चन्द्र सरकार (कलकत्ता विश्वविद्यालय १७६५)।

प्रयाग प्रशस्ति

समुद्र गुप्त के लेख

१. [यः] कुलजैः स्वै.............................तस.................
२. [यस्य ?]..
..........[।।*]-[?]
३. पुं (?) व ....त्र.........................
४. [स्फु] रद्वं (?) ....क्ष स्फुटो-
[द्वं व] सित..............प्रवितत ......[।।*] [२*]
५ यस्य प्र[ज्ञानु] षङ्गोचित-सुख-मनसः शास्त्रत [त्वा] र्थ-भर्त्तुः
[— —] स्तब्धो ‿‿ ‿ ‿) नि (‿ ‿ ‿ ‿ ‿) नोच्छृ-
[– ‿ ‿ – –] ....
६. [स] त्काव्य-श्री-विरोधान्बुध-गुणित-गुणाज्ञाहतानेव कृत्वा
[वि] द्वल्लोके [ऽ*] वि [नाशि ?] स्फुट-बहु-कविता-कीर्ति-राज्यं
भुनक्ति [।।*] [३]

७. [आ] र्य्यो हीत्युपगुह्य भाव-पिशुनैरुत्कर्ण्णितै रोमभिः सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्य-कुलज-म्लानाननोद्वीक्षि [तः] [।*]

८. [स्ने] ह–व्यालुलितेन वाष्प-गुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा यः पित्रा [ऽ*] भिहितो नि [रीक्ष्य] निखि [लां] पाह्येवमूर्व्वी] मिति [॥*] [४]

९. [दृ]ष्ट्वा कर्म्माण्यनेकान्यमनुज-सदृशान्यद्भुतोद्भिन्न-हर्षा भ [ा] वैरास्वादय [न्त ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ – – ⏑ – – ⏑] [के]-चित् [।*]

१०. वीर्य्योत्तप्ताश्च केचिच्छरणमुपगता यस्य वृत्ते [ऽ*] प्रयाणे [ऽ*] प्य [त्ति ?]—[ग्रस्तेषु ? – – ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ – – – ⏑ – – ⏑ – –] [॥*] [५]

११. संग्रामेषु स्व-भुज-विजिता नित्यमुच्चापकाराः श्वःश्वो मान—प्र [⏑ ⏑ ⏑ ⏑ – – – ⏑ – – – ⏑ – –] [।*]

१२. तोपोत्तुङ्गैः स्फुट-बहु-रस-स्नेह-फुल्लैर्म्मनोभिः पश्चात्तापं व— [⏑ ⏑ ⏑ ⏑ – – – ⏑] [मं ?] स्य [ा] द्वसन्त [म् ?] [॥*] [६]

१३. उद्वेलोदित-बाहु-वीर्य्य-रभसादेकेन येन क्षणादुन्मूल्याच्युतनागसेन–ग [णपत्यादीन्नृपान्संगरे ? ।*]

१४. दण्डैर्ग्राहयतैव कोत्त-कुलजं पुष्पाह्वये क्रीडता सूर्य्येने (णे) त्य (?) [⏑ – ⏑ –] तट [⏑ – – – ⏑ – – ⏑ – [॥*] [७]

१५. धर्म्म-प्राचीर-बन्धः शशि-कर-शुचयः कीर्त्तयः स-प्रताना वैदुष्यं तत्त्व-भेदि प्रशम [⏑ ⏑ ⏑,] कु [–च⏑] मु (सु ?) [– ⏑]—तार्त्थम् (?) [।*]

१६. [अध्येयः] सूक्तमार्ग्गः कवि-मति-विभवोत्सारणं चापि काव्यं को नु स्याद्यो [ऽ*] स्य न स्याद गुण इति]वि] दुषां ध्यान-पात्रं य एकः [॥*] [८]

१७. तस्य विविध-समर-शतावतरण-दक्षस्य स्व-भुज-बल-पराक्रमैक-बन्धोः पराक्रमाङ्कस्य परशु-शर-शङ्कु-शक्ति-प्रासासि तोमर—

१८. भिन्दिपाल-न [ा] राच-वैतस्तिकाद्यनेक-प्रहरण-विरुढाकुल—व्रण-
[शताङ्क-शोभा-समुदयोपचित-कान्ततर-वर्ष्मणः]

१६. कौशलकमहेन्द्र-माह [ा*] कान्तारक व्याघ्रराज— कौरालकमण्ट-
राज - पैष्टपुरकमहेन्द्रगिरि - कौट्टूरकस्वामिदत्तैरण्डपल्लकदमन - काञ्चे-
यकविष्णुगोपालमुक्तक—

२०. नीलराज-वैङ्गेयकहस्तिवर्म्म-पालक्कोग्रसेन-दैवराष्ट्रककुवेर-कौस्थलपुरक-
धनञ्जय-प्रभृति-सर्व्वदक्षिणापथराज-ग्रहण-मोक्षानुग्रहजनित-प्रतापोन्मिश्र-
माहाभाग्यस्य

२१. रुद्रदेव-मतिल-नागदत्त-चन्द्रवर्म्म-गणपतिनाग-नागसेनाच्युतनन्दिबलवर्मा
द्यनेकार्य्यावर्त्तराज-प्रसभोद्धरणोद्वृत-प्रभाव-महतः परिचारकीकृत-सर्व्वा-
विक-राजस्य

२२. समतट-डवाक-कामरूप-नेपाल-कर्त्तृपुरादि-प्रत्यन्त - नृपतिभिर्म्मालि-
कार्जुनायन-यौधेय-माद्रकाभीर - प्रार्जुन-सनकानिक-काक-खरपरिकादिभि-
श्च सर्व्व-कर-दानाज्ञाकरण-प्रणामागमन—

२३. परितोषित-प्रचण्ड-शासनस्य अनेक-भ्रष्ट-राज्योत्सन्न-राजवंश-प्रतिष्ठा-
पनोद्भूत-निखिल-भु [व] न-[विचरण]-शान्त-यशसः दैव-पुत्र-षाहि-
षाहानुषाहि-शकमुरुण्डैः सैंहलकादिभिश्च

२४. सर्व्व-द्वीप - वासिभिरात्म - निवेदन-कन्योपायन-दान-गुरुत्मदङ्क-स्व-विषय-
भुक्ति-शासक-[य] ाचनाद्युपाय-सेवा-कृत-बाहु-वीर्य्य-प्रसर-धरणि-बन्धस्य
पि (पृ) थिव्यामप्रतिरथस्य

२५. सुचरित-शतालङ्कृतानेक-गुण-गणोत्सिक्तिभिश्चरण-तल-प्रमृष्टान्य-
नरपति-कीर्त्तेः साध्वसाधूदय-प्रलय-हेतु-पुरुषस्याचिन्त्यस्य भक्त्यवनति-
मात्र-ग्राह्यमृदुहृदयस्यानुकम्पावतो (ऽ*) नेक-गो-शतसहस्र-प्रदायिन[:]

२६. कृपण-दीनानाथातुर-जनोद्धरण-सत्त्रदीक्षाद्युपगत-मनसः समिद्धस्य
विग्रहवतो लोकानुग्रहस्य धनद-वरुणेन्द्रान्तक-समस्य स्वभुज-बल-विजि-
तानेक-नरपति-विभव-प्रत्यर्प्पणा-नित्य-व्यापृतायुक्त-पुरुषस्य

२७. निशित-विदग्ध-मति-गान्धर्व्व-ललितैर्व्रीडित-त्रिदशपतिगुरु-तुम्बुरु-नारदा-
देर्व्विद्वज्जनोपजीव्यानेक-काव्य-क्रियाभिः प्रतिष्ठित-कविराज-शब्दस्य
सुचिर-स्तोतव्यानेकाद्भुतोदार-चरितस्य

२८. लोकसमय-क्रियानुविधान-मात्र-मानुषस्य लोक-धाम्नो देवस्य महाराज-
श्री-गुप्त-प्रपौत्रस्य महाराज-श्री-घटोत्कच-पौत्रस्य महाराजाधिराज-श्री-
चन्द्रगुप्त-पुत्रस्य

२९. लिच्छवि-दौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्फ (त्प) न्नस्य महाराजाधि-
राज-श्री-समुद्रगुप्तस्य सर्व्व-पृथिवी-विजय-जनितोदय-व्याप्त-निखिला-
वनि-तलां कीर्त्तिमितस्त्रिदशपति-

३०. भवन-गमनावाप्त-ललित-सुख-विचरणामाचक्षाण इव भुवो वाहुरय-
मुच्छ्रितः स्तम्भः [।*] यस्य । प्रदान-भुज-विक्रम-प्रशम-शास्त्र-वाक्यो-
दयैरुपर्युपरि-सञ्चयोच्छ्रितमनेक-मार्गं यशः [।*]

३१. पुनाति भुवन-त्रयं पशुपतेर्ज्जटान्तर्गुहा-निरोध-परिमोक्ष-शीघ्र मिव पाण्डु
गाङ्गं [पयः] [।।] [९] एतच्च काव्यमेषामेव भट्टारक-पादानां
दासस्य समीप-परिसर्प्पणानुग्रहोन्मीलित-मतेः

३२. खाद्यटपाकिकस्य महादण्ड नायक—ध्रुवभूतिपुत्रस्य सान्धिविग्रहिक-कुमारा-
मात्य म [हादण्ड नाय] क—हरिषेणस्य सर्व्व-भूत-हित-सुखायास्तु ।

३३. अनुष्ठितं च परमभट्टारक-पादानुध्यातेन महादण्डनायक-तिल-भट्टकेन

(२) एरण प्रशस्ति

७. [– – ⏑ – ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑] सुवर्ण-दाने

८. [न्यक्का] रिता नृपतयः पृथु-राघवाद्याः [।।*][2]

९. [राजा] बभूव धनदान्तक-तुष्टि-कोप-तुल्यः

१०. [⏑ – ⏑] म-नयेन समुद्रगुप्तः [।*]

११. [– –] प्य पार्थिव-गणस्सकलः पृथिव्याम्

१२. [– –] स्त (स्व ?)-राज्य-विभवाद्ध्रुतमास्थितो [ऽ*] भूत् [*][3]

१३. [– –] न भक्ति-नय-विक्रम-तोषितेन

१४. [यो] राज-शब्द-विभवैरभिषेचनाद्यैः [।*]

१५. [– –] नितः परम-तुष्टि-पुरस्कृतेन

१६. [— ⌣] वो नृपैरप्रतिवार्य्यवीर्य्यः [।।*][४]

१७. [श्रीर] स्य पुरु-पराक्रम-दत्त-शुल्का

१८. [हस्त्य] श्व-रत्न-धन-धान्य समृद्धि-युक्ता [।*]

१९. [नित्य] ङ् गृहेषु मुदिता बहु-पुत्र-पौत्र—

२०. [स] ङ् क्रामिणी कुल-वधू [धू:] व्रतिनी निविष्टा [।।*][५]

२१. [यस्य] ोज्जितं समर-कर्म्म पराक्रमेद्धं

२२. [दीप्तं] यशः सु-विपुलम्परिबम्भ्रमीति [।*]

२३. [कर्म्मा] णि यस्य रिपवश्च रणोज्जितानि

२४. [स्व] प्नान्तरेष्वपि विचिन्त्य परित्रसन्ति [।।*][६]

२५. [– – ⌣ – ⌣ ⌣ ⌣ – ⌣ ⌣ – ⌣ – –] [–]
प्तः (?) स्व भोग—नगरैरिरिणक—प्रदेशे [।*]

२६. [– – ⌣ – ⌣ ⌣ ⌣ – ⌣ ⌣ – ⌣ – –] [सं]
स्थापितस्स्वयशसः परिबृङ् हण (णा)र्त्थम् [।।*][७]

२७. [– – ⌢ – ⌢ ⌢ – ⌣ ⌣ – ⌣ – –]
[⌣ – – ⌣ [वो नृपतिराह यदा [⌣ – –] [।*]

३. नालंदा अभिलेख

१. ओं स्वस्ति [।*] महानौ-हस्त्यश्व-जयस्कन्धावारानन्दपुर-वासका [त्स]-
र्व्वरा [जोच्छे] त्तु (:*) पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधि-सलि [लास्वा]-

२. दित-यशसो धनद-वरुणे [न्द्रा] न्त (क*)-समस्य कृतान्त-परशोर्न्यायाग-
तानेक-गो-हिरण्य-कोटि-प्रदस्य चिरोत्स [न्ना]—

३. श्वमेधाहर्त्तुर्म्महाराज-श्री-गु(प्त*)-प्रपौत्रस्य महाराजश्री-घटोत्कच-
पौत्रस्य महारा [जाधि] राज-[श्री-चन्द्रगुप्त]-पुत्र—

४. स्य लिच्छवि-दौ [हि] त्रस्य महादेव्याङ् कुमारदेव्यामुत्पन्न ⁀ परमभा-
[गवतो महाराजाधिराज-श्री समुद्रगु]प्तः तावि [गुण्य] (?)—

५. वै [षयिक] भद्रपुष्करकग्राम—क्रिमिलवावैषयिक पू[र्णाना ?] ग ग्रा]म
(यो:*)-

६. एव [·*] चाह विदितम्वो भवत्वेष ग्रा [मो] [मया] [मा] तापित्रोरा-
[त्मनश्च] पु [ण्याभिवृद्ध] ये जयभट्टिस्वामिने

७. * * * * [सोपरि] करो [द्देशेनाग्र] हा [रत्वे] नातिसृष्टः [।*]
तद्युष्माभिर [स्य]

८. त्रैविद्यस्य श्रोतव्यमाज्ञा च कर्त्त [व्या] [स] र्व्वे [च] [स] मुचिता
गा [म*]-प्रव्या-(या*) मेय-हिरण्यादयो देया न चेत्‌ प्र—

९. [भृ] त्यनेन त्रै [वि] द्ये नान्य-ग्रामादि-करद-कुटुम्बि-]कारुक]ादय ()
प्रवेश [यित] व्या-[म] न्यथ [ा] नियतमाग्रहाराक्षेपः

१०. [स्य]ादिति ।। सम्वत्‌ ५ माघ-दि० २ निबद्धः [।*]

११. ग्रनुग्रामाक्षपटलाधि [कृत]-महापीलूपति-महावलाधि-[कृ] त-गोपस्वाम
(घ*)ादेश-लिखितः [।*]

१२. [कुमा*]र-श्री-चन्द्रगुप्तः [।।*]

४. गया ग्रभिलेख

१. ॐ स्वरित [।।*] महानौ-हस्त्यश्वजयस्कन्धावाराजायोद्धया-वासकात्स-
र्व्वराजोच्छेत्तुः पृ—

२. थिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधि-सलिलास्वादित-यश (सो*) धनद-
वरुणेन्द्रा—

३. न्तक-समस्य कृतान्तपरशोन्र्यायागतानेक-गो-हिरण्यक-कोटि-प्रदस्य
चिरोच्छि—

४. न्नाश्वमेधाहर्त्तुः महाराज-श्री-गुप्त-प्रपौत्रस्य महाराज-श्री-घटोत्कच-
पौत्रस्य

५. महाराजाधिराज-श्री-चन्द्रगुप्त-पुत्रस्य लिच्छवि-दौहित्रस्य महादेव्यां
(*) कु—

६. मारदेव्यामुत्पन्न (:*) परमभागवतो महाराजाधिराज-श्री-समुद्र—

७. गुप्तः गयावैषयिक-रेवतिकाग्रामे ब्राह्मण-पुरोग-ग्राम-वल—

८. त्कोषाभ्या (?) माह । एव (·*) चार्थं विदितम्बो भवत्वेष ग्रामो मया
मातापित्त्रोरा—

९. त्मनश्च पुण्याभिवृद्धये भारद्वाज-सगोत्राय बह्वृ चाय स [व्र] ह्मचा—

१० रिणे ब्राह्मण-गोरदेवस्वामिने सोपरिकरोद्देशेनाग्रहारत्वेनाति-

११. सृष्टः [।*] तद्युष्माभिरस्य श्रोतव्यमाज्ञा च कर्त्तव्या सर्व्वे [च] [स] मुचिता ग्राम-प्र—

१२. त्यया मेय-हिरण्यादयो देयाः [।*] न चेतत्प्रभृत्येतदाग्रहारिकेणान्यद्ग्रा—

१३. मादि-करक-कुटुम्बि-कारुकादयः प्रवेशयितव्या अन्यथा नियतमाग्रा—

१४. हाराक्षेप (:*) स्यादिति (॥*) सम्वत् ९ वैशाख-दि० १० [॥*]

१५. अन्यग्रामाक्षपटलाधिकृत-द्यूत-गोपस्वाम्यादेश-लिखितः [॥*]

रामगुप्त का लेख

पूर्वीमालवा प्रतिमा-लेख

(अ) प्रतिमा की चरण चौकी पर

१. भगवतोऽर्हतः चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेयं कारिता

२. महाराजाधिराजश्रीरामगुप्तेन उपदेशात् पाणिपा-

३. त्रिकचन्द्रक्षमाचार्य्यक्षमण-श्रमण प्रशिष्याचार्य

४. सर्प्पसेनक्षमणशिष्यस्य गोलक्यान्त्यास तत्पुत्रस्य चेलुक्षमणस्येति

(ब) द्वितीय प्रतिमा-लेख

१. भगवतोऽर्हतः पुण्यदंतस्य प्रतिमेयं कारिता

२. महाराजाधिराजश्रीरामगुप्तेन उपदेशात् पाणिपात्रिक

३. चंद्रक्षम (णा)चार्य्य(क्षमण)श्रमणप्रशिष्यस्य

४. × × × ×

(स) तृतीय प्रतिमा (चरण चौकी) अभिलेख

१. भगवतोऽर्हतः (चंद्रप्रभ) स्य प्रतिमेयं कारिता महाराज

२. श्री (रामगुप्तेन) उपदेशात् पाणिपात्रि

३. × × ×

४. × × ×

द्वितीय चन्द्रगुप्त के लेख

(१) मेहरोली लौह-स्तंभ अभिलेख

१. यस्योद्वर्त्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागतान्वङ्गेष्वाहव-वर्त्तिनो [ऽ*]-भिलिखिता खड्गेन कीर्त्तिर्भुजे

६. एव [·*] चाह विदितम्वो भवत्वेष ग्रा [मो] [मया] [मा] तापित्रोरा-
[त्मनश्च] पु [ण्याभिवृद्ध] ये जयभट्टिस्वामिने

७. * * * * [सोपरि] करो [द्देशेनाग्र] हा [रत्वे] नातिसृष्टः [।*]
तद्युष्माभिर [स्य]

८. ग्रैविद्यस्य श्रोतव्यमाज्ञा च कर्त्त [व्या] [स] र्व्वे [च] [स] मुचिता
ग्रा [म*]-प्रत्या-(या*) मेय-हिरण्यादयो देया न चेत् प्र—

९. [भृ] त्यनेन त्रै [वि] द्ये नान्य-ग्रामादि-करद-कुटुम्बि-]कारुक]ादय ()
प्रवेश [यित] व्या-[म] न्यथ [ा] नियतमाग्रहाराक्षेपः

१०. [स्य]ादिति ।। सम्वत् ५ माघ-दि० २ निबद्धः [।*]

११. अनुग्रामाक्षपटलाधि [कृत]-महापीलूपति-महावलाधि-[कृ] त-गोपस्वाम
(य*)ादेश-लिखितः [।*]

१२. [कुमा*]र-श्री-चन्द्रगुप्तः [।।*]

४. गया अभिलेख

१. ॐ स्वस्ति [।।*] महानौ-हस्त्यश्वजयस्कन्धावाराजायोद्धया-वासकात्स-
र्व्वराजोच्छेत्तुः पृ—

२. थिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधि-सलिलास्वादित-यश (सो*) धनद-
वरुणेन्द्रा—

३. न्तक-समस्य कृतान्तपरशोन्र्न्यायागतानेक-गो-हिरण्यक-कोटि-प्रदस्य
चिरोच्छि—

४. न्नाश्वमेधाहर्त्तुः महाराज-श्री-गुप्त-प्रपौत्रस्य महाराज-श्री-घटोत्कच-
पौत्रस्य

५. महाराजाधिराज-श्री-चन्द्रगुप्त-पुत्रस्य लिच्छवि-दौहित्रस्य महादेव्यां
(*) कु—

६. मारदेव्यामुत्पन्न (:*) परमभागवतो महाराजाधिराज-श्री-समुद्र—

७. गुप्तः गयावैषयिक-रेवतिकाग्रामे ब्राह्मण-पुरोग-ग्राम-वल—

८. त्कोषाभ्या (?) माह । एव (·*) चार्थ विदितम्वो भवत्वेष ग्रामो मया
मातापित्रोरा—

९. त्मनश्च पुण्याभिवृद्धये भारद्वाज-सगोत्राय बह्वृ चाय स [व्र] ह्मचा—

१० रिणे ब्राह्मण-गोत्रदेवस्वामिने सोपरिकरोद्देशेनाग्रहारत्वेनाति-
११. सृष्टः [।*] तद्युष्माभिरस्य श्रोतव्यमाज्ञा च कर्त्तव्या सर्व्वे [च] [स]
मुचिता ग्राम-प्र—
१२. त्यया मेय-हिरण्यादयो देयाः [।*] न चेतत्प्रभृत्येतदाग्रहारिकेणान्यद्ग्रा—
१३. मादि-करक-कुटुम्बि-कारुकादयः प्रवेशयितव्या अन्यथा नियतमाग्रा—
१४. हाराक्षेप (:*) स्यादिति (॥*) सम्वत् ६ वैशाख-दि० १० [॥*]
१५. अन्यग्रामाक्षपटलाधिकृत-द्यूत-गोपस्वाम्यादेश-लिखितः [॥*]

रामगुप्त का लेख

पूर्वीमालवा प्रतिमा-लेख

(अ) प्रतिमा की चरण चौकी पर

१. भगवतोऽर्हतः चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेयं कारिता
२. महाराजाधिराजश्रीरामगुप्तेन उपदेशात् पाणिपा-
३. त्रिकचन्द्रक्षमाचार्य्यक्षमण-श्रमण प्रशिष्याचार्य
४. सर्प्पसेनक्षमणशिष्यस्य गोलक्यान्त्यास तत्पुत्रस्य चेलुक्षमणस्येति

(ब) द्वितीय प्रतिमा-लेख

१. भगवतोऽर्हतः पुण्यदंतस्य प्रतिमेयं करिता
२. महाराजाधिराजश्रीरामगुप्तेन उपदेशात् पाणिपात्रिक
३. चंद्रक्षम (णा)चार्य्य(क्षमण)श्रमणप्रशिष्यस्य
४. × × × ×

(स) तृतीय प्रतिमा (चरण चौकी) अभिलेख

१. भगवतोऽर्हतः (चंद्रप्रभ) स्य प्रतिमेयं कारिता महाराज
२. श्री (रामगुप्तेन) उपदेशात् पाणिपात्रि
३. × × ×
४. × × ×

द्वितीय चन्द्रगुप्त के लेख

(१) मेहरोली लौह-स्तंभ अभिलेख

१. यस्योद्वर्त्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागतान्वङ्गेष्वाहव-वर्त्तिनो [ऽ*]-
भिलिखिता खड्गेन कीर्त्तिर्भुजे

२. तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जिता वाह्लिका यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्व्वीर्य्यानिलैर्द्दक्षिणः [।।*]
३. खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्ग्गामाश्रितस्येतरां मूर्त्या (र्त्त्या) कर्म्म जितावनि गतवतः कीर्त्या (र्त्त्या) स्थितस्य क्षितौ
४. शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्नद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोर्य्यत्नस्य शेषः क्षितिम् [।।*]
५. प्राप्तेन स्व-भुजार्ज्जितं च सुचिरञ्चैकाधिराज्यं क्षितौ चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्र-सदृशीं वक्त्र-श्रियं बिभ्रता
६. तेनायं प्रणिधाय भूमि-पतिना भावेन विष्णो (ष्णौ) मतिं प्रान्शुर्व्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः [।।*]

(२) उदयगिरि गुहा अभिलेख

१. सिद्धम् [।।*] य [दं] तज्ज्योतिरर्क्कभिमुर्व्व्याम [– – ⏑ – ⏑ – – – – – ⏑ –) व्यापि चन्द्रगुप्ताख्यमद्भुतम [।।*][1]
२. विक्रमावक्रय-क्रीता दास्य-न्यग्भूत-पार्थिव [ा] [– – –] मानसंरक्त-धर्म्म [– – ⏑ – ⏑ –][2]
३. तस्य राजाधिराजर्षेरचिन्त्यो [– ⏑ –] र्म्मणः अन्वय-प्राप्तसाचिव्यो व्या-[पृत-सन्धि]-विग्रहः [।।*][3]
४. कौत्सश्शाव इति ख्यातो वीरसेनः कुलाख्यया शब्दार्थ-न्यायलोकज्ञ⁀कवि⁀पाटलिपुत्रकः [।।*][4]
५. कृत्स्न पृथ्वी-जयार्त्थेन राज्ञैवेह सहागतः भक्त्या भगवतश्शम्भोर्ग्गुहामेताम-कारयत् [।।*][5]

(३) मथुरा स्तम्भ

१. सिद्धम् [।*] भट्टारक-महाराज-[राजाधि] राज-श्री-समुद्रगुप्त-सत-
२. [त्पु] त्रस्य भट्टारक-म[हाराज-[रा*जाधि] राज-श्री-चन्द्रगुप्त-
३. स्य विज (य*)-राज्य-संवत्स [रे*] [पं] चमे [५] कालानुवर्त्तमान-सं-
४. वत्सरे एकषष्ठे ६० (+*) १·········[प्र]थमे शुक्लदिवसे पं-
५. चम्यां [।*] अस्यां पूर्व्यां [यां] [भ] गव [त्कु] शिकाद्दशमेन भगव-
६. त्पराशराच्चतुर्थेन [भगवत्क*] पि [ल] विमल-शि-
७. ष्य-शिष्येण भगव [दुपमित*] विमल-शिष्येण

८. आर्य्योदि [ता*] चार्य्ये [ण*] [स्व*]-पु [ण्या*] प्यायन-निमित्तं
९. गुरूणां च कीर्त्य [र्थमुपमितेश्व] र-कपिलेश्वरौ
१०. गुर्व्वायतने गुरु······ ······प्रतिष्ठापितो]।*] नै-
११. तत्ख्यात्यर्थमभिलि[ख्यते] [।*] [अथ*] माहेश्वराणां वि-
१२. ज्ञप्तिः क्रियते सम्बोधनं च [।*] यथाका [ले] नाचार्या-
१३. णां परिग्रहमिति मत्वा विशङ्कं [·] [पू]जा-पुर-
१४. स्कार [·] परिग्रह-पारिपालनं कुर्य्या]दिति विज्ञप्तिरिति [।*]
१५. यश्च कीर्त्यभिद्रोहं कुर्य्य [ा] द्य [श्चा] भिलिखित [मुप]र्य्यधो
१६. वा [स] पंचभिर्म्महं [ा*] पातकैरुपपातकैश्च संयुक्तस्स्यात्]।*]
१७. जयति च भगवान् रुद्रदण्डो (ऽ*) ग्र [ना] यको नित्य [·]]॥]

(४) उदयगिरि गुप्त लेख (गु० स० ८२)

१. सिद्धम् ॥ संवत्सरे ८० (+*) २ आषाढ़-मास-शुक्लैकादश्याम् परम-भट्टारक-महाराजाधि(राज*) श्री-चन्द्र[गु]प्त-पादानुध्यातस्य ।
२. महाराज-छगलगपौत्रस्य महाराज-विष्णुदास-पुत्रस्य सनकानिकस्य महा [राज*] * * लस्यायं दे [यधर्म्म]: ।

(५) गढ़वा लेख (गु० स० ८८)

परमभागवतमहाराजाधिराजश्री
चन्द्रगुप्तराज्यसंवत्सरे ··· ··· ···
··· ··· ··· ···
दिवसपूर्वायां ··· ··· ···
मातृदासप्रमुखपुण्याप्यालार्थम्
··· ··· ··· ···
दा सत्रसामान्यब्राह्मण ··· ···
दीनारर्द्ध समि: १० ··· ····
यश्चैनम् धर्म्मस्कंधं ··· ··· ···
··· ··· युक्तः स्यादिति

(दूसरी ओर)

परमभागवतमहाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तराज्यसंवत्सरे ८०८
अस्यां दिवसपूर्वायां पाटलिपुत्र ··· ···

हस्तस्य भार्या ·
आत्मपुण्योपचयार्थ्यम् · · · · · ·
· · · · · · · · · · · ·

दीनाराः १० दस · · · · · · · · · · · ·
धर्म्मस्कंधं व्युच्छिन्द्यात् पंचमहापातकैः संयुक्तः स्यादिति

(६) सांची वेदिका लेख (गु० स० ६३)

[सिद्धम् ।।*]

१. का [कना*] दवोट-श्रीमहाविहारे शील-समाधि-प्रज्ञा-गुण-भावितेन्द्रियाय परम-पुण्यः

२. क्षे [त्र] [ग*] ताय चतुर्द्दिगभ्यागताय श्रवण-पुङ्गवावसथायार्य्य-सङ्घाय महाराजाधि—

३. रा [ज-श्री] चन्द्रगुप्त-पाद-प्रसादाप्यायित-जीवित-साधनः अनुजीविसत्पुरुष-सद्भाव—

४. वृ[त्यर्थं*] जगति प्रख्यापयन् अनेक-समरावाप्त-विजय-यशस्पताकः सुकुलिदेश-न

५. ष्टो * * * वास्तव्य उन्दान-पुत्राम्रकद्दिवो भज-शरभङ्गाम्रराज-राजकुल-मूल्य-क्री

६. त [म] * * * * ईश्वरवासकं पञ्च-मण्डलया [·*] प्रणि-पत्य ददाति पञ्चविंशतिश्च दीना—

७. रान् [।।*] * * * * * * यावदर्द्धेन महाराजाधिराज-श्रीचन्द्र-गुप्तस्य देवराज इति प्रि—

८. य-ना [म्नः*] * * * * * रितस्य सर्व्व-गुण-संपत्तये यावच्चन्द्रा-दित्यौ तावत्पञ्च भिक्षवो भुंजं-

९. तां र [त्न*]-गृ [हे*] [च*] [दी*] [प] को ज्वलतु [।*] मम चापरार्द्धात्पञ्चैव भिक्षवो भुंजंतां रत्न-गृहे च

१०. दीपक इ[ति] [।।*] [त] देतत्प्रवृत्तं य उच्छिन्द्यात्स गो-ब्रह्म-हत्यया संयुक्तो भवेत्पञ्चभिश्चान—

११. न्तर्य्यैरिति [।।*] सं० ९० (+*) ३ भाद्रपद-दि ४ [।।*]

(७) मथुरा शिलालेख

सर्वराजोच्छेत्ता पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसो

धनदवरुणइंद्रान्तकसमस्य कृतांतपरशोः न्यायागतानेकगोहिरण्यकोटिप्रदस्य चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः महाराजश्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराजश्रीघटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तपुत्रेण तत्परिगृहीतेन महादेव्यामुत्पन्नेन परमभागवतेन महाराजाधिराजश्री(चन्द्रगुप्तेन)

(शेष नष्ट हो गया)

प्रथम कुमारगुप्त के लेख

(१) भिलसद शिला-स्तम्भ लेख (गु० स० ०६)

१. [सिद्धम् ॥*] [सर्व्व-राजोच्छेत्तुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरदधि-स*] [लिला]-स्वादित-यशसो

२. [धनद-वरुणेन्द्रान्तक-समस्य कृतान्त-परशोः न्यायागतानेकगो-हि*]-रण्य-कोटिप्रदस्य चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः

३. [महाराज-श्रीगुप्त-प्रपौत्रस्य महाराज-श्रीघटोत्कच-पौत्रस्य० म*] [हा] राजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य

४. लिच्छ [वि-दौहित्रस्य] महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजा*]धिराज श्रीसमुद्रगुप्तपुत्रस्य

५. महादेव्यां दत्त[देव्यामुत्पन्नस्य] [स्वयमप्रतिरथस्य*] [परम*]-भागवतस्य महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्त-पुत्रस्य

६. महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज-श्रीकुमारगुप्तस्याभि-[व] र्द्धमानविजय-राज्य-संवत्सरे षण्णवते

८. * * * * निवासिनः स्वामि-महासेनस्यायतने-[ऽ*] स्मिन्कार्त्तयुगाचार-सद्धर्म्म-वर्त्मानुयायिना [॥*]

९. [माता] * * * * * * [प]र्षदा [।*] मानितेन ध्रुवशर्म्मणा कर्म्म महत्कृतेदम् । [।*]

१०. कृ [त्व] । [नेन्द*]ाभिरामां मु[नि-वसति] [मिह*] [स्व]र्ग-सोपान-[रू]पां कौवेरछन्दबिम्बां स्फटिकमणि दलाभास-गौरां प्रतोलीम् ।

११. प्रासादाग्राभिरूपं-गुणवर-भवनं [धर्म-इ*] स्त्रं यथावत् ।
पुण्येर्वेवाभिरामं व्रजति शुभकृतिरहात-इमां ध्रुवो (ऽ*) सु । [।*]

१२ ... ...शुभामृतवर-प्रख्यात-ल[ब्धा भुवि]।
... ...रहीन-सत्त्व-समता कस्तं न संपूजयेत्।
१३. ...ति-सञ्चय-चयैः शैली— ⏑ — — ⏑ — :।
... स्थिर-वरस्तम्भो [च्छ्र] यः कारितः। [।*]

(२) गढ़वा लेख (गु० स० ९८)

जितं भगवता। परमभागवतमहाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तराज्य-संम्वत्सरे ९०+८ अस्यां दिवसपूर्व्वायां ...

... ... आत्मपुण्योपचयार्थम्

... ... कल्याणसदसत्र

... ... कस्य तलकनिक्से

... ... दीनाराः द्वादश

... ... स्यांकुरोद्धस्तसंयुक्तः स्यादिति

(३) उदय गिरि गुहा लेख (गु० स० १०६)

१. नमः सिद्धेभ्यः [॥*] श्री-संयुतानां गुण-तोयधीनां गुप्तान्वयानां नृप-सत्तमानां

२. राज्ये कुलस्याभिविवर्धमाने षड्भिर्य्युते वर्ष-शते [ऽ*]थ मासे [॥१॥]सु-कार्त्तिके वहुल-दिने [ऽ*] थ पंचमे

३. गुहा-मुखे स्फुट-विकटोत्कटामिमां [।*] जित-द्विषो जिन-वर-पार्श्व-संज्ञिकं जिनाकृतिं शम-दमवान-

४. चीकरत् [॥२*॥] आचार्य्य-भद्रान्वय-भूषणस्य शिष्यो ह्यसावार्य्य-कुलोद्-गतस्य [।*] आचार्य्य-गोश—

५. र्म्म-मुनेस्सुतस्तु पद्मावतावश्वपतेर्भटस्य [॥३*॥] परैरजेयस्य रिपुहन-मानिनस्स सङ्घि—

६. लस्येत्यभिविश्रुतो भुवि [।*] स्व-संज्ञया शङ्कर-नाम-शब्दितो विधान युक्तं यति-मा—

७. र्गमास्थितः (४) स उत्तराणां सदृशे कुरूणामुदग्दिशादेशवरे प्रसूतः। क्षयाय कर्म्मारिगणस्य धीमान् यदत्र पुण्यं तदपाससर्ज्ज (५)

(४) धानाइदह ताम्रपत्र लेख (गु० स० ११३)

१. ... ... [स*] म्वत्सर-श [ते] त्रयोदशोत्त [रे*]

२. १००+१०+३*]··[अस्या*] [न्दि] वस-पूर्व्वायां परमदैवत-पर—

३. म-भट्टारक-महाराजधिराज-श्री कुमारगुप्तः*]··कुटु [म्बि]·· ब्राह्मण-शिवशर्म्म-नागशर्म्मह—

४.····· ·· वकीर्त्ति-क्षेमदत्त-गोष्ठक-वर्गपाल-पिङ्गल-शुङ्कक-काल

५.········ विष्णु-[देव] शर्म्म-विष्णुभद्र-खासक-रामक-गोपाल—

६.·········· श्रीभद्र-सोमपाल-रामाद्यक (?)-ग्रामाष्टकुलाधिकरणञ्च

७.·········· विष्णुना (?णा) विज्ञापिता इह खादा (टा ?) पारविषये (ऽ*) नुवृत्त-मर्य्यादास्थि [ति]-

८. नीवीधर्म्मक्ष (क्र)येण लभ्य [ते] [।*] [त] दर्हथ ममाधानेनैव क्रमेन (? ण) दा [तुं]

९.······· समेत्या (?) भिहितैः (:*) सर्व्वमेव * * कर-प्रतिवेशि (?) कुटुम्बिभिरवस्थाप्य क—

१०.·····* रि * कन * यदितो * * [त] दवधृतमिति यतस्तथेति प्रति-पाद्य

११.·········· [अष्टक-नं*] वक-नला [भ्या] मपविञ्छ्य क्षेत्र-कुल्यवाप-मेकं दत्तं [।*] ततः आयुक्तक—

१२.·······* आ (?) तृकटक-वास्तव्य-छन्दोग-ब्राह्मण-वराहस्वामिनो दत्तं [।*] त [द्भव]—

१३.········ भूम्या दा [नाक्षे] पे च गुणागुणमनुचिन्त्य शरीर-क [।*] ञ्चनकस्य चि-

१४. [र-चञ्चलत्वं*]········[।।*] [उ] क्तञ्च भगवता द्वैपायनेनं [।*] स्ववत्ताम्परदत्तांम्वा

१५. [यो हरेत वसुन्धरां ।*]
[स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृ*] भिः सह पच्यते]।।*]
षष्टि वर्ष-सहस्राणि स्वर्ग्गे मोदति [भू] मिदः [।*]

१६. [आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् ।।*]
[पू*] र्व्वदत्तां द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर [।*]
महीं [मही] मताञ्छ्रेष्ठ*]

१७. [दानाच्छ्रेयोऽनुपालनं ।।*[
·············यं···भद्रेन उत्कीर्ण्णा स्थम्भेश्वरदासे [न]]।।*]

(५) मथुरालेख (गु० स० ११३)

सिद्धं । परमभट्टारकमहाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तस्य विजयराज्य
सं० १००+१०+३—तमदिवस २०
अस्यां पूर्व्वायां कोट्टिणा गणा द्विधा

(६) तुमैन शिला लेख (गु० स० ११६)

१. रिर्य्यस्य लोकत्रयान्ते । चरणकमलं मत्स्यं वन्द्यते सिद्धसङ्घैः राजा श्री-
चन्द्रगुप्तस्तदनु जयति यो मेदिनीं सागरान्ताम् ।

२. श्रीचन्द्रगुप्तस्य महेन्द्रकल्पः कुमारगुप्तः तनयः समग्रां (—) ररक्ष
साध्वीमिव धर्म्मपत्नीम् वीर्य्याग्रहैः तैरुपगुह्य भूमिम् ।

३. (— —) गौरः क्षित्यम्बरे गुणसमूहमयूखजालो नाम्नोदितस्स तु
घटोत्कचगुप्तचन्द्रः (–) स पूर्व्वजानां स्थिरसत्त्वकीर्तिर्भुजार्जितां कीर्त्ति-
मभिप्रपद्य

४. गुप्तान्वयानां वसुधेश्वराणां समाशते षोडशवर्षयुक्ते । कुमारगुप्ते
नृपतौ पृथिव्यां विराजमाने शरदीव सूर्य्ये । वटोदके साधुजनाधिवासे

५. श्रीदेव इत्यर्जितनामधेयः ।। तदग्रजोभूद्धरिदेवसंज्ञस्ततोनुजो यस्तु
स धन्यदेवः । यतो वरो यश्च स भद्रदेवः तत‿ कनीयानपि सङ्घदेवः

६. नरुक्तचिताः समानवृत्ताकृतिभावधीराः कृतालयाः तुम्बवने वभूवुः ।
अकारयंस्ते गिरि-शृङ्ग-तुङ्ग-शशिप्रभं देवनिकेतनं—।

७. करमदांडा शिलालिंग लेख (गु० स० ११७)

१. नमो महादेवाय । म[हाराधिराज-श्री] [चन्द्रगुप्तपादा-*]-

२. नुध्यातस्य चतुरुदधि-सलिलास्वादित-य [शसो] [महाराजा*]-

३. धिराज-श्रीकुमारगुप्तस्य विजयराज्य-संवत्स[र]-शते सप्तदशोत्त [रे*]

४. कार्त्तिक-मास-दशम-दिवसे(ऽ*) स्यान्दिवस-पूर्व्वायां [च्छान्दोग्या-चार्य्यश्च]
वाजि-

५. सगोत्र-कुरम [ा] र [व्या ?] भट्टस्य पुत्रो विष्णुपालितभट्टस्तस्य पुत्रो मह
[ा] र [ा]-

६. जाधिराज-श्री चन्द्रगुप्तस्य मन्त्री कुमारामात्यशिखरस्वाम्यभूत्तस्य पुत्रः

७. पृथिवीषेणो महाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तस्य मन्त्री कुमारामात्यो-(ऽ*)
न

८. न्तरं च महाबलाधिकृतः भगवतो महादेवस्य पृथिवीश्वर इत्येवं समाख्या-
तस्या-

९. स्यैव भगवतो यथा-कर्त्तव्य-धार्म्मिक-कर्म्मणा पाद-शुश्रूषणाय भगवच्छै-

१०. लेश्वरस्वामि-महादेव-पादमूले आयोध्यक-नानागोत्रचरण-तपः—

११. स्वाध्याय-मन्त्र-सूत्र-भाष्य-प्रवचन-पारग-भारडिदसमद-देवद्रोण्यां

१२. ... ...

(८) कलैकुरि ताम्रपत्र लेख (गु० सं० १२०)

१. स्वस्ति । शृंगवेरवैथेयपूर्ण्णकौशिकायाः आयुक्त (काच्युतदासोधिक)
रणञ्च हस्तिशीर्षविभीतक्यां गुल्मगांधि-

२. (कायां) धान्यपाटलिकायां संगो हालिषु ब्राह्मणादीन्ग्रामकुटुंबिनः
कुशलमनुवर्ण्य बोधयति । विदितं

३. भविष्यति यथा इहवीथीकुलकभीमकायस्थ प्रभुचन्द्ररुद्रदासदेवदत्त-
लक्ष्मण क × × × (विनयद) त्त कृष्ण

४. दास पुस्तपाल सिहनंदि यशोदामभिः वीथीमहत्तरकुमारदेवगंड प्रजा-
पति उभयशो रामशर्म ज्येष्ठ-

५. दामस्वामिचन्द्र हरिसिंह कुटुम्बि यशो विष्णु कुमार विष्णु भवकुमार-
भूतिकुमार यशः-|-स्तवै (खि) लिनक

६. शिवकुंडचसुशिनायर शिवदामरुद्रप्रभमित्र कृष्णमित्र मघशर्म ईश्वरचन्द्र
रुद्रभव

७. श्रीनाथ हरिशर्म सुशर्महरि अलातस्वामी ब्रह्मस्वामी महासेन भट्ट
स्वाम्य· · · · · ·

८. र्म्म रुद्रशर्म कृष्णदत्त नंददास भवदत्त अहिशर्म सोमविष्णु लक्ष्मणशर्म
कीर्ति विष्णु कुमशर्म गु

९. शुक्रशर्म सर्प्पपालित कंकुटि विश्व शंकर जयस्वामि कैवर्तशर्म्म
हिमशर्म्मपुरंदरजयविष्णु· · · · · · ·

१०. सिहृत्तबोदनारायनदासवीरनागराज्यनागगुहमहिभवनाथगुहविष्णुशर्व्व-
विष्णु वि· · · · · · · · · · · · ·कुलदास

११. श्रीगुहविष्णु रामस्वामि कामन कुंड रतिभद्र अच्युतभद्र लीढ़क
प्रभकीर्ति जयदत्त कालक (?) अच्युतनरदेवभव

१२. भवरक्षित पिचकुंड प्रवरकुंड शर्व्वदास गोपालपुरोगाः वयं च विज्ञा-
पिताः इह वीथ्यामप्रतिकरखिलक्षेत्र

१३. स्य शाश्वतकालोपयोगाया क्षयनीव्या द्विदीनारिक्यखिलक्षेत्रकुल्या-
वापविक्रयमर्य्यादिया इच्छेमहि प्रति

१४. प्रति मातापित्रोः पुण्याभिवृद्धये पौंड्रवर्द्धनकचातुर्व्विद्यवाजिसनेय
चरणाभ्यन्तरब्राह्मणदेव

१५. भट्ट अमरदत्त महासेनदत्तानां पंचमहायज्ञप्रवर्तनाय नवकुल्या-वाप-
न्क्रीत्वा दातुमेभिरेवोप-

१६. रिनिर्दिष्टकग्रामेषु खिलक्षेत्राणि विद्यन्ते तदर्हथास्मत्तः अष्टादश दीना-
रान्गृहीत्वा एतान्नवकुल्यवापा—

—दूसरी ओर—

१७. न्यनुपादयितुं यतः एषां कुलिकभीमादीनां विज्ञाप्यमुपलभ्य पुस्तपाल-
सिहनन्दियशोदा (· · · · · ·)

१८. वधारणयावधृत्वा स्त्ययमिहवीथ्या मप्रतिकारखिलक्षेत्रशाश्वतकालो-
पभोगायाक्षयनीव्या द्विदीनारि

१९. क्य कुल्यावापविक्रयोनुवृत्तः तद्दीयतां नास्ति विरोधः कश्चिदित्य-
वस्थाप्य कुलिकभीमादिभ्यो अष्टादश

२०. दीनारानुपसंहृरितकानायीकृत्य हस्तिशीर्षविभीतक्यां धान्यपाटलिकायां
(संगो) हालिकग्रामेषु

२१. द्यां दक्षिणोद्देशेषु अष्टौ कुल्यवापा धान्यपाटलिकग्रामस्य पश्चिमो-
त्तरोद्देशे (सद्यः खात)परिखावेष्टित-

२२. मुत्तरेण वाटानदीपश्चिमेन गुल्मगन्धिकाग्रामसीमानमिति कुल्यवाप
एको गुल्मगन्धिकायां पूर्व्व

२३. णाद्यपथः पश्चिमप्रदेशे द्रोणवापद्वयैः हस्तिशीर्ष प्रावेश्य तापसपोत्तके
दयितापोत्तके च वि

२४. भीलकप्रवेश्यचित्रवातंगरे (च) कुल्यवापाः सप्तद्रोणवापाः षट् एषु यथोपरिनिर्दिष्टीकग्रामप्रदेशे-

२५. ष्वेषां कुलिकभीमकायस्थप्रभुचन्द्ररुद्रदासादीनां मातापित्रोः पुण्याभिवृद्धये ब्राह्मण-

२६. देवभट्टस्य कुल्यवापा पंच (कुल ५) अमरदत्तस्य कुल्यवापद्वयं महासेनदत्तस्य कुल्यवापद्वयं

२७. कु एषां त्रयाणां पंचमहायज्ञप्रवर्तनाय नवकुल्यावापानि प्रदत्तानि । तद्युष्माकं

२८. ति लिख्यते च समुपस्थितकालात्ययेपि विषयपतयः ग्रामुक्तकाः कुटुम्बिनोधिकरणिका वा समन्वय-

२९. हारिणो भविष्यन्ति तैरपि भूमिदानफलमवेक्ष्य अक्षयनीव्यनुपालनीया । उक्तं च महाभारते भगव-

३०. ता व्यासेन

स्वदत्तां वा परदत्तां वा यो हरेत वसुंधरां

स विष्ठायां क्रिमिर्भूत्वा पितृभिः सह पच्यते ।।

षष्टिंवर्षसहस्राणि स्वर्गे वसति भूमिदः

३१. आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् ।। कृशाय कृशवृत्तये वृत्ति

३२. (भूमि) वृत्तिकरीन्दत्वा सुखी भवति कामदः

बहुभिर्वसुधा भुक्ता भुज्यते च पुनः पुनः। यस्य यस्य यदा भूमिः तस्य तस्य (तदा फलम् ।)

(७) दामोदरपुर ताम्रपत्र लेख (गु० सं० १२४)

१. सम्व १०० (+*.) २० (+*) ४ फ़ाल्गुन-दि ७ परमदैवत परमभट्टारक-महाराज [।*]

२. धिराज-श्रीकुमारगुप्ते पृथिवी-पतौ तत्पाद-परिगृहीते पुण्ड्रवर्द्ध [न*]-

३. भुक्तादुपरिक-चिरातदत्तेनानुवलवानक-कोटिवर्षविषये च त-

४. न्नियुक्तक-कुमारामात्य-वेत्रवर्मन्यधिष्ठानाधिकरणञ्च नगरश्रेष्ठि-

५. धृतिपाल-सार्त्थवाहबन्धुमित्र-प्रथमकुलिकधृतिमित्र-प्रथमका [य*]-

६. स्थशाम्बपाल-पुरोगे संव्यवहरति यतः ब्राह्मण-कर्प्पटिकेण

७. विज्ञापित (*) अर्हथ ममाग्निहोत्रोपयोगाय अप्रदाप्रहत-खि-

८. ल-क्षेत्र [·*] त्रिदीनारिक्य-कुल्यवापेन शश्वताचन्द्रार्क्क-तारक-भोज्ये [त*]-

९. या नीवी-धर्म्मेण दातुमिति एवं दीयतामित्युत्पन्ने त्रिणि दीना [राण्यु*]-

१०. पसंगृह्य यतः पुस्तपाल-रिशिदत्त-जयनन्दि-विभुदत्तानामवधा-

११. रणया डोङ्गायाः पश्चिमदेशे कुलयवापमेकं दत्तम् [।।*]

१२. स्व-दत्तां परदत्ताम्वा यो हरेत वसुन्धरां [।*]
भूमि·[दान]-संवद्धा [:*] श्लोका भवन्ति [।*]

१३. स विष्ठायां क्रिमिर्भूत्वा पितृभिः सह पच्यते इति [।।*]

(१०) दामोदरपुर ताम्रपत्र लेख (गु० सं० १२८)

१· स [·] १०० (+*) २० (+*)८ वैशाख-दि १० (+*) ३
पर [मदैव] त-परमभट्टारक-महाराजाधिराज-[श्री] [कुमा*]-

२. रगुप्ते पृथिवी-पतौ [तत्पाद]-परिगृहीतस्य पु [ण्ड्र] वर्द्धन-भुक्तावुप-
[रिक-चि] रात-दत्त [स्य]

३. भोगेन [नुव] ह [मानक]-कोटिव [र्ष]-विषये तन्नियुक्तक-कु[मा]
रामात्य-वे [त्र]-

४. वर्म्मणि अधिष्ठाना [धिक] र [णञ्च] नगर [श्रे]ष्ठिधृतिपाल-
सार्थवा [हबन्धुमि] त्र-प्र [थ]

५. मकुलिकधृतिमित्र-[प्रथ]मकायस्थ [शाम्ब] पाल-पुरो[गे] सम्व्यव-
[हर] ति [यतः*] स···

६. विज्ञापितं अ [हं] थ मम प[ञ्च]-महायज्ञ-प्रवर्तनायानुवृत्ताप्रदाक्षयनि
[वी*]-

७. मर्य्यादया दातुमिति एतद्विज्ञाप्यमुपलभ्य पुस्तपा [ल]-रिसिदत्त-जयन
[न्दि-वि]-[भुदत्तानामव*]-

८. धारणया दीयतामित्यु [त्प] न्ने एतस्माद्य [था]नुवृत्त-त्रैदीनारि
[क्य-कु] ल्यवापे [न]

—दूसरी ओर—

९. [द्व] यमुप [संगृ] ह्य ऐरावता [गो] राज्ये पश्चिम-दिशि पञ्चद्रो
[णा]-

१०. [म] ला: ह [ट्ट]-पानकैश्च सहितेति दत्ताः [।*] तदुत्तर-कालं सम्व्यवहारिभि: [धर्म्ममवेक्ष्या] नु [म]-

११. न्तव्या: [।*] अपि च भूमि-दान-सम्बद्धाविमौ श्लोकौ भवतः [।*] पूर्व्व-दत्तां द्विजाति [भ्यो]

१२. यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर [।*]
महीं महीवतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयो (ऽ*) नुपा(ल*) नं [॥*]
वहुभिर्व्वसुधा दत्ता दी [य] ते च

१३. पुनः पुनः [।*]
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलमिति [॥*]

(११) बैग्राम (गु० सं० १२८)

१. स्वस्ति (॥*) पञ्चनगर्य्यां भट्टारक-पादानुध्यातः कुमारामात्य-कुल-वृद्धिरेतद्विषयाधिकरणञ्च

२. वायिग्रामिक-त्रिवृत (ा*)-श्रीगोहाल्योः ब्राह्मणोत्तरान्सम्व्यवहारि-प्रमुखान्ग्राम-कुटुम्बिनः कुशलमनु-

३. वर्ण्य बोधयन्ति (।*) विज्ञापयतोरत्रैव वास्तव्यकुटुम्बिभोयिलभास्करा-वावयोः पित्रा शिवनन्दि

४. नारा कारि [त]क (·*) भगवतो गोविन्दस्वामिनः देवकुलस्तदसावल्प-वृत्तिकः (।*) इह विषये समुदय-

५. वाह्याद्यस्तम्ब-खिल-क्षेत्राणामकिञ्चित्प्रतिकराणां शश्वदाचन्द्रार्क्क-तारक-भोज्याना-मक्षय-नीव्या

६. द्विदीनारिक्क्य-कुल्यवाप-विक्रयो (ऽ*) नुवृत्तस्तदर्हथावयोस्सकाशा-न्षड्दीनारानष्ट च रूपकानायी

७. [कृ]त्य भगवतो गोविन्दस्वामिनो देवकुले [ख]ण्ड-फुट्ट-प्रतिसंस्का-(ा*) र-करणाय गन्ध-धूप-दीप

८. सुमनसा (·*) प्रवर्त्तनाय च त्रिवृतायां भोगिलस्य खिलक्षेत्र-कुल्यवाप-त्रयं श्रीगोहाल्याश्चापि

९. तल वाटकार्य (·*) स्थल-वास्तुनो द्रोणवापमेकं भास्करस्यापि स्थल-वास्तुनो द्रोण-वापञ्च दातु-

१०. मि [ति] (।*) यतो युष्मान्बोधयाम (:*) पुस्तपाल-दुर्गदत्तार्क्कदास-योरवधारणया अवधृत-

११. मस्तीह-विषये समुद्र-वाह्याद्यस्तम्बखिलक्षेत्राणां (·*) शश्वदाचन्द्रा. र्कतारक-भोज्यानां द्विदी-

१२. नारिवयकुल्यवापविक्रयो (ऽ*) नुवृत्तः एवंविधाप्रतिकर-खिलक्षेत्र-विक्रये च न कश्चिद्राजार्थ-

१३. विरोध उपचय एव भट्टारकपादानां धर्म्मफलषड्भागावाप्तिश्च तद्दीयतामिति (।*) एतयोः

१४. भोयिल-भास्करयोस्सका (शा*) त्षड्दीनारानष्ट च रूपकानायीकृत्य भगवतो गोविन्दस्वामिनो

१५. देवकुलस्यार्त्थे भोयिलस्य त्रिवृतायां खिलक्षेत्र-कुलयवाप-त्रयं तलवाट-काद्यर्थम्

—दूसरी ओर—

१६. श्रीगोहालया (·*) स्थल-वास्तुनो द्रोणवापं भास्करस्याप्यत्रैव स्थले-वस्तुनो द्रोणवाप—[1]

१७. मेव (·*) कुलयवापत्रयं स्थल-द्रोणवाप-द्वयञ्च अक्षयनीव्यास्ताम्र-पट्टेन दत्तम् (।*) निम्न-

१८ कु ३ स्थल-द्रो २ (।*) ते यूयं स्वकर्षणाविरोधि-स्थाने दर्व्वीकर्म्म-हस्तेनाष्टक-नवक-नकाभ्या-

१९. मपविलच्छ्व चिरकाल-स्थ (ा*) यि-तुषाङ्गारादिना चिह्नैश्चातुर्द्दिशो-नियम्य दास्यथाक्षय-

२०. नीवी-धर्म्मेण च शश्वत्कालमनुपालयिष्यथ (।*) वर्तमान-भविष्यैश्च संव्यवहार्य्यादिभिरेत-

२१. द्धर्म्मापेक्षयानुपालयितव्यमिति (॥*) उक्तञ्च भगव (ता*) वेदव्यास-महात्मना(।*) स्व-दत्तां परदत्तां

२२. व्वा यो हरेत वसुन्धरा (राम्) ।
स विष्ठायां क्रिमिर्भूत्वा पितृभिस्सह पच्यते (॥*) ।
षष्टिवर्षसह-

२३. स्राणि स्वर्ग्गे मोदति भूमिदः (।*)
आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् (॥*)[2]
पूर्व्वं—

२४. दत्तां द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर (।*)
महीं (·*) महिमतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयो (ऽ*) नुपाल-
२५. नमिति (।।*)
सं १०० (+*) २० (+*) ८ माघ-दि° १० (+*) ६ (।।*)

(१२) मनकुवार प्रस्तर बौद्ध प्रतिमा लेख (गु० सं० १२६)

१. ॰ नमो बुधान [।*] भगवतो सम्यक्सम्बुद्धस्य स्वमताविरुद्धस्य इयं प्रतिमा प्रतिष्ठापिता भिक्षुबुद्धमित्रेण
२. सम्वत् १०० (+*) २० (+*) ६ महाराज-श्रीकुमारगुप्तस्य राज्ये ज्येष्ठमास दि १० (+*) ८ सर्वदुःखप्रहानार्थम् [।।*]

१३. गढ़वा शिलालेख

जितं भगवता। परमभागवतमहाराजाधिराज
कुमारगुप्तराज्यसम्वत्सरे··· ··· ···
दिवसे १० अस्यां दिवसपूर्व्वायां····· ··· ···
··· ··· ··· ··· ··· ···
सद सत्र सामान्य ··· ··· ···
दत्त दिनार १० ··· ··· ··· ···
सत्रे दिनार ··· ··· ···
··· स पंचमहापातकैः संयुक्तः
स्यादिति ··· ··· ···
गोविन्द लक्ष्मा ··· ··· ···

मन्दसोर शिलालेख (मालव संवत् ४७३ एवं ५२६)

१. [सिद्धम् ।।]
[यो] [वृत्त्यर्थ] मुपास्यते सुरगणै [स्सिद्धैश्च] सिद्धयर्त्थिभि-
र्द्ध्यानैकाग्रपरैर्व्विधेयविषयैर्म्मोक्षार्त्थिभिर्य्योगिभिः ।
भक्त्या तीव्र-तपोधनैश्च मुनिभिश्शाप-प्रसादक्षमै-
र्हेतुर्य्यो जगतः क्षयाभ्युदययो॒पायात्स वो भास्करः । [।*]
तत्त्व-ज्ञान-विदो (ऽ*) पि यस्य न विदुर्ब्रह्मार्प-
२. यो (ऽ*) भ्युद्यताः
× कृत्स्नं यश्च गभस्तिभिः प्रविसृतै॒पु(ष्णा)ति लोक-त्रयम् ।

ग[न्ध] र्व्वामिर-सिद्ध-किन्नर-नरैस्संस्तूयते (ऽ*) म्युत्थितो
भक्तेभ्यश्च ददाति यो (ऽ*) भिलषितं तस्मै सवित्रे नमः । [।*]
य ⏝[प्र]त्यहं प्रतिभात्युदयाचलेन्द्र-
विस्तीर्ण्ण-तुङ्ग-शिखर-स्खलितांशुजालः [।*]
क्षीबाङ्गना—

३. जन-कपोल-तलाभिताम्र-
⏝पायात्स वस्सु [कि] रणाभ [रणो] विवस्वान् । [।*]
कुसुमभरानततरुवर-देवकुल-सभा-विहार-रमणीयात् ।
लाट-विषयान्नगावृत-शैलाज्जगति प्रथित-शिल्पाः । [।*]
ये देश-पार्थिव-गुणापहृताः प्रकाश-
मध्वादिजान्यविरलान्यसुखा-

४. न्यपास्य ।
जातादरा दशपुरं प्रथमं मनोभि-
रन्वागतास्ससुत-बन्धु-जनास्समेत्य ।।
मत्तेभ-गण्ड-तटविच्युत-दान-बिन्दु-
सिक्तोपलाचल-सहस्र-विभूषणायाः [।*]
पुष्पावनम्र-तरु-मण्ड-वतंसकाया
भूमे⏝परन्तिलक-भूतमिदं क्रमेण ।।
तटोत्थ-वृक्ष-च्युत-

५. नैक-पुष्प-
विचित्र-तीरान्त-जलानि भान्ति ।
प्रफुल्ल-पद्माभरणानि यत्र
सरांसि कारण्डव-संकुलानि ।
विलोल-वीची-चलितारविन्द-
पतद्रजः-पिञ्जरितैश्च हंसैः ।
स्व-केसरोदार-भरावभुग्नैः
क्वचित्सरांस्यम्बुरुहैश्च भान्ति ।।[।*]
स्व-पुष्पभारावनतैर्न्नगेन्द्रै-

६. प्रगल्भालिकुल-स्वनैश्च ।
अजस्रगाभिश्च पुराङ्गनाभि-
र्व्वनानि यस्मिन्समलंकृतानि ॥*
चलत्पताकान्यबला-सनाथा-
न्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि ।
तडिल्लता-चित्र-सिताभ्र-कूट-
तुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥
कैलास-तुङ्ग-शिखर-प्रतिमानि चान्या-
न्याभान्ति दीर्घ-वलभी-

७. नि सवेदिकानि ।
गान्धर्व्व-शब्दमुखराणि निविष्ट-चित्र-
कर्म्माणि-लोल-कदली-वन-शोभितानि ।
प्रासाद-मालाभिरलंकृतानि
धरां विदार्य्येव समुत्थितानि ।
विमान-माला-सदृशानि यत्र
गृहाणि पूर्णेन्दु-करामलानि ॥*
यद्भात्यभिरम्य-सरिद्द्वयेन चपलोर्म्मिणा समुपगूढम् [।]

८. रहसि कुच-शालिनीभ्यां प्रीतिरतिभ्यां स्मराङ्गमिव ।
सत्य-[क्षमा]-दम-शम-व्रत-शौच-धैर्य्य-
[स्वाध्या]य-वृत्त-विनय-स्थिति-बुद्ध्युपेतैः ।
विद्या-तपो-निधिभिरस्मयितैश्च विप्रै-
र्य्यद्भ्राजते ग्रहगणैः खमिव प्रदीप्तैः ॥
अथ समेत्य निरन्तर-सङ्गतै-
रहरहः-प्रविजृम्भित-

९. सौहृदाः [।*]
नृपतिभिस्सुतवत्प्रतिम [ा] निताः
प्रमुदिता न्यवसन्त सुखं पुरे ॥
श्रवण-[सु] भग [ं] ध [ा] नुर्व्वे [द्यं] दृढं परिनिष्ठिताः

सुचरित-सतासङ्गाः केचिद्विचित्र-कथाविदः ।
विनय-निभृतास्सम्यग्धर्म्म-प्रसङ्ग-परायणाः
प्रियमपरुषं पत्थ्यं चान्ये क्षमा वहु भाषितुम् ॥

१०. केचित्स्व-कर्म्मण्यधिकास्तथान्यै-
र्व्विज्ञायते ज्योतिषमात्मवद्भिः ।
[अद्यापि] चान्ये समर-प्रगल्भा-
[×कु] र्व्वंत्यरीणामहितं प्रसह्य । [*]
प्राज्ञा मनोज्ञ-वधवः प्रथितोरुवंशा
वंशानुरूप-चरिताभरणास्तथान्ये ।
सत्यव्रताः प्रणयिनामुपकारदक्षा
विस्रम्भ—

११. [पूर्व्वं] मपरे दृढ-सौहृदाश्च ॥
विजित-विषय-सङ्गैर्द्धर्म्म-शीलस्तथान्यै-
[र्मृ] दुभि[रधि] क-स [त्त्वैर्ल्लोकयात्रा]मरैश्च ।
स्व-कुल-तिलक-भूतैर्म्मुक्तरागैरुदारै-
रधिकमधि [वि] भाति श्रेणिरेवंप्रकारैः ॥
तारुण्य-कान्त्युपचितो (ऽ*)पि सुवर्ण-हार-
तांबूल-पुष्प-विधिना सम-

१२. [लंकृ] तो (ऽ*)पि ।
नारी-जनः प्रियमुपैति न तावदग्र्यां
यावन्न पट्टमय-वस्त्र-[यु]गानि धत्ते ॥
स्पर्श [वता वर्णा]न्तर-विभाग-चित्रेण नेत्र-सुभगेन [।]
यैस्सकलमिदं क्षितितलमलंकृतं पट्टवस्त्रेण ॥
विद्याधरी-रुचिर-पल्लव-कर्णपूर-
वातेरिता[स्थि]रतरं प्रविचिन्त्य

१३. [लो] कं ।
मानुष्यमर्त्य-निचयांश्च तथा विशाला-

[स्ते]षां शुभा [म]ति[रभूद] चला ततस्तु [॥]
चतु [स्समुद्रान्त]-विलोल-मेखलां
सुमेरु-कैलास-बृहत्पयोधराम् ।
वनान्त-वान्त-स्फुट-पुष्प-हासिनीं
कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥
समान-धीश्शुक्र-बृहस्पतिभ्यां
ललामभूतो भुवि

१४. पार्थिवानाम् ।
रणेषु यः पार्त्थ-समानकर्म्मा
बभूव गोप्ता नृप-विश्ववर्म्मा ॥
दीनानुकंपन-परः कृपणार्त-वर्ग-
सन्ध[ा] प्रदो (ऽ*)धिकदयालुरनाथ-नाथः ।
[क]ल्पद्रुमः प्रणयिनामभयप्रदश्च
भीतस्य यो जनपदस्य च बन्धुरासीत् ॥
तस्यात्मजः स्थैर्य्य-नयोपपन्नो
ब[न्धु]-प्रियो

१५. बन्धुरिव प्रजानाम् ।
बंध्वर्त्ति-हर्त्ता नृप-बन्धुवर्म्मा
द्विड्दृप्त-पक्ष-क्षपणैक [द] क्षः ॥
कान्तो युवा रक्ष-पटुर्व्विनयान्वितश्च
राजापि सन्नुपसृतो न मदैः स्मयाद्यैः ।
शृङ्गार-मूर्तिरभिभात्यनलंकृतो (ऽ*) पि)
रूपेण य‿कुसुम-चाप इव द्वितीयः ॥
वैधव्य तीव्र-व्यसन-क्षतानां

१६. स्मृत्वा यमद्याप्यरि-सुन्दरीणां ।
भयाद्भवत्यायतलोचनानां
घन-स्तनायासकरः प्रकम्पः
तस्मिन्नेव क्षितिपतिप्रिये बन्धुवर्म्मण्युदारे
सम्यक्स्फीतं दशपुरमिदं पालयत्युन्नतांसे

[शि]ल्पावाप्तैर्धन-समुदयैः पट्टवा[यैरु] दारं
श्रे[णीभूतै]र्भवनमतुलं कारितं

१७. दीप्तरश्मेः ॥
विस्तीर्ण-तुङ्ग शिखरं शिखरि-प्रकाश-
मभ्युद्गतेन्द्वमल-रश्मि-कलाप-[गौ]रम् ।
यद्भाति पश्चिम-पुरस्य निविष्टकान्त-
चूडामणिप्रतिसमन्नयनाभिरामम् ॥
रामा-सनाथ-[र*] चने दर-भास्करांशु-
वह्नि-प्रताप-सुभगे जल-लीन-मीने ।
चन्द्रांशु-हर्म्यतल-

१८. चन्दन-तालवृन्त-
हारोपभोग-रहिते हिम-दग्ध-पद्मे ॥
रोध्र प्रियंगुतरुकुन्दलताविकोश-
पुष्पा [सव] प्रमु[दि] तालि-कलाभिरामे ।
काले तुषार-कण-कर्क्कश-शीत-वात-
वेग-प्रनृत्त-लवली-नगणैकशाखे ॥
स्मर-वशग-तरुणजन-वल्लभाङ्गना-विपुल-कान्त-पीनोरु-

१९. स्तन-जघन-घनालिङ्गन-निर्भर्त्सित-तुहिन-हिम-पाते ॥
[मा] लवानां गण-स्थित्या या [ते] शत-चतुष्टये ।
त्रिनवत्यधिके [ऽ*] ब्दानामृतौ सेव्य-घनस्तने ॥
सहस्यमास-शुक्लस्य प्रशस्ते (ऽ*) ह्नि त्रयोदशे ।
मङ्गलाचार-विधिना प्रासादो (ऽ*) यं निवेशितः ॥
बहुना समतीतेन

२०. कालेनान्यैश्च पार्त्थिवैः ।
व्यशीर्य्यतैकदेशो (ऽ*)स्य भवनस्य ततो (ऽ*) धुना ॥
स्वयशोवृद्धये सर्वमत्युदारमुदारया ।
संस्कारितमिदं भूयः [श्रेण्या] भानुमतो गृहम् ॥
अत्युन्नतमवदातं नभः (:*) स्पृशन्निव मनोहरैश्शिखरैः ।
शशि-भान्वोरभ्युदयेष्वमल-मयूखायतन-
भूतम् ॥

वत्सर-शतेषु पंचसु विंशत्यधिकेषु नवसु चाब्देषु ।
यातेष्वभिरम्य-[तप]स्यमास-शुक्ल-द्वितीयायाम् ॥
स्पष्टैरशोकतरु-केतक-सिदुवार-
लोलातिमुक्तकलता-मदयंतिकानाम् ।
पुष्पोद्गमैरभिनवैरधिगम्य नून-
मैक्यं विजृम्भित-शरे हर-पूत-देहे ॥

२२. मधुपान-मुदित-मधुकर-कुलोपगीतनगनैक-पृथु-शाखे ।
काले नव-कुसुमोद्गम-दंतुर-कांत-प्रचुर-रोद्ध्रे ॥
शशिनेव नभो विमलं कौ[स्तु] भ-मणिनेव शार्ङ्गिणो वक्षः ।
भवन-वरेण तथेदं पुरमखिलमलंकृतमुदारम् ॥
अमलिन-शशि-

२३. लेखा-दंतुरं पिङ्गलानां
परिवहति समूहं यावदीशो जटानाम् ।
वि [कच-क] मल-मालामंस-सक्तां च शार्ङ्गी
भवनमिदमुदारं शाश्वतन्तावदस्तु ॥
श्रेण्यादेशेन भक्त्या च कारितं भवनं रवेः ।

पूर्व्वा चेयं प्रयत्नेन रचिता वत्सभट्टिना ॥
२४. स्वस्ति कर्तृ-लेखक वाचक-श्रोतृभ्यः ॥ सिद्धिरस्तु ॥

स्कन्दगुप्त के अभिलेख

(१) जूनागढ़ शिलालेख (गु० स० १३६, १३७ व १३८)

खण्ड १

१. सिद्धम् [॥*] श्रियमभिमत-भोग्यां नैक-कालापनीतां त्रिदश-पति-सुखार्त्थं यो बलेराजहार । कमलनिलयनायाः शाश्वतं धाम लक्ष्म्याः

२. स जयति विजितार्त्तिर्व्विष्णुरत्यन्त-जिष्णुः ॥ [१*] तदनु जयति शश्वत् श्री-परिक्षिप्त-वक्षाः स्व-भुज-जनित-वीर्यो राजराजाधिराजः । नरपति-

३. भुजगानां मान-दर्प्पोत्फणानां प्रतिकृति-गरुडा [ज्ञां] निर्व्विषी (षीं)

चावकर्त्ता ।। [२*] नृपति-गुण-निकेतः स्कन्दगुप्तः पृथु-श्रीः चतुरु-[दधि-जला] न्तां स्फीत-पर्यन्त-देशाम् ।

४. अवनिमवनतारिर्यः चकारात्म-संस्थां पितरि सुर-सखित्वं प्राप्त-वत्यात्म-शक्त्या ।। [३*] अपि च जित (मे) व तेन प्रथयन्ति यशांसि यस्य रिपवो [ऽ*]पि [।*] आमूल-भग्न-दर्प्पा नि [वंचना ? म्लेच्छ-देशेषु] ।। [।।४*]

५. क्रमेण बुद्धया निपुणं प्रधार्य ध्यात्वा च कृत्स्नान्गुण-दोष-हेतून् । व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्र-पुत्रांल्लक्ष्मीः स्वयं यं वरयांचकार ।। [५*] तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चिद्धर्म्मादपेतो मनुजः प्रजासु ।

६. आर्त्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दण्डो(ण्डयो) न वा यो भृश-पीडितः स्यात् ।।[६*] एवं स जित्वा पृथिवीं समग्रां भग्नाग्रदर्पा [न्] द्विषत-श्च कृत्वा । सर्व्वेषु देशेषु विधाय गोप्तृ (प्तृ) न् संचिन्तया [मा]स बहु-*प्रकारम् ।। [७*] स्यात्को [ऽ*] नुरूपो

७. मतिमान्विनी (नी) तो मेधा-स्मृतिभ्यामनपेत-भावः । सत्यार्जवौदार्य-नयोपपन्नो माधुर्य-दाक्षिण्य-यशो-[ऽ*] न्वितश्च ।। [८*] भक्तो [ऽ*] नुरक्तो नृ-[विशे] ष-युक्तः सर्व्वोपधाभिश्च विशुद्ध-बुद्धिः । आनृण्य-भावोपगतान्तरात्माः (त्मा) सर्व्वस्य लोकस्य हिते प्रवृत्तः ।। [९*]

८. न्यायार्जने [ऽ*] र्थस्य च कः समर्थः स्यादर्जितस्याप्यथ रक्षणे च । गोपायितस्यापि [च] वृद्धि-हेतौ वृद्धस्य पात्र-प्रतिपादनाय ।। [१०*] सर्व्वेषु भृत्येष्वपि संहतेषु यो मे प्रशिष्यान्निखिलान्सुराष्ट्रान् । आं ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो भारस्य तस्योद्वहने समर्थः ।। [११*]

९. एवं विनिश्चित्य नृपाधिपेन नैकानहो-रात्र-गणान्स्व-मत्या । यः संनियुक्तो [ऽ*]र्थनया कथंचित् सम्यक्सुराष्ट्रावनिपालनाय ।। [१२*] नियुज्य देवा वरुणं प्रतीच्यां स्वस्था यथा नोन्मनसो बभूवु [:] [।*] पूर्व्वेत-रस्यां दिशि पर्णदत्तं नियुज्य राजा धृतिमांस्तथा [ऽ*] भूत् ।। [१३*]

१०. तस्यात्मजो ह्यात्मज-भाव-युक्तो द्विधेव चात्मात्म-वशेन नीतः । सर्व्व त्मना [ऽऽ*] त्मेव च रक्षणीयो नित्यात्मवानात्मज-कान्त-रूपः । (।

[१९*] रूपानुरूपैर्ललितैर्विचित्रैः नित्य-प्रमोदान्वित-सर्व-भावः। प्रबुद्ध-पद्माकर-पद्म-वक्त्रो नृणां शरण्यः शरणागतानाम्। ॥[१५*]

११. अभवद्भुवि चक्रपालितो [ऽ*] सावित्ति नाम्ना प्रथितः प्रियो जनस्य। स्व-गुणैरनुपस्कृतैस्सदा [त्तैः] पितरं यश्च विशेषयांचकार। (॥) [१६*] क्षमा प्रभुत्वं विनयो नयश्च शौर्यं विना शौर्य-मह [? ?] र्च्चनं च। दाक्ष्यं (?) दमो दानमदीनता च दाक्षिण्यमानृण्यम [शू]न्यता च। (॥) [१७*] सौन्दर्यमार्येतरनिग्रहश्च अ-विस्मयो धैर्यमुदीर्णता च।

१२. इत्येवमेते [ऽ*]तिशयेन यस्मिन्नविप्रवासेन गुणा वसन्ति। (॥) [१८*] न विद्यते [ऽ*] सौ सकले [ऽ*]पि लोके यत्रोपमा तस्य गुणैः क्रियेत। स एव कार्त्स्न्येन गुणान्वितानां बभूव नृ (नृ)णामुपमान-भूतः। (॥) [१९*] इत्येवमेतानधिकानतो [ऽ*] न्यान्गुणान्प[री]क्ष्य स्वयमेव पित्रा यः संनियुक्तो नगरस्य रक्षां विशिष्य पूर्वान्प्रचकार सम्यक्। (॥ [२०*]

१३. आश्रित्य वि (वी)र्यं [स्वभु] ज-द्वयस्य स्वस्यैव नान्यस्य नरस्य दर्पम्। नोद्वेजयामास च कंचिदेवमस्मिन्पुरे चैव शशास दुष्टाः (न्)। (॥) [२१*] विस्रंभमल्पे न शशाम यो [ऽ*]स्मिन्काले न लोकेषु स-नाग-रेषु। यो लालयामास च पौर-वर्गान् [पितेव ?]-पुत्रान्सुपरीक्ष्य दोषान्। (॥) [२२*] संरंजयां च प्रकृतीर्बभूव पूर्व्व-स्मिताभाषण-मान-दानैः।

१४. निर्यन्त्रणान्योन्य-गृह-प्रवेशै [:] संवर्द्धित-प्रीति-गृहोपचारैः। (॥) [२३*] ब्रह्मण्य-भावेन परेण युक्तः शुक्लः शुचिर्दान-परो यथावत्। प्राप्यान्स काले विषयान्सिषेवे धर्मार्थयोश्चा [प्य*] विरोधनेन। (॥) [२४*] यो [ऽ* जायतास्मात्खलु ?] पर्णदत्तात्स न्यायवानत्र किमस्ति चित्रम्। मुक्ता-कलापाम्बुज-पद्म-शीता-च्चन्द्रात्किमुष्णं भविता कदा-चित्। (॥) [१५*]

१५. अथ क्रमेणाम्बुद-काल आग [ते नि] दाघ-कालं प्रविदार्य तोयदैः। ववर्ष तोयं बहु संततं चिरं सुदर्शनं येन बिभेद चात्वरात्। (॥) [२६*] संवत्सराणामधिके शते तु त्रिंशद्भिरन्यैरपि षड्भिरेव। रात्रौ दिने प्रोष्ठपदस्य षष्ठे गुप्त-प्रकाले गणनां विधाय। (॥) [२७*]

१६. इमाश्च या रैवतकाद्विनिर्गता [:*] पलाशिनीयं सिकता-विलासिनी। समुद्रकान्ताः चिर-बन्धनोषिताः पुनः पतिं शास्त्र-यथोचितं ययुः। (॥) [२८]अवेक्ष्य वर्षागम-जं महोद्भ्रमं महोदधेरूर्जयता प्रियेप्सुना। अनेक-तीरान्तज-पुष्प-शोभितो

१७. नदीमयो हस्त इव प्रसारितः। (॥) [२९*] विषाद्य [मानाः खलु सर्वतो ज] नाः कथं-कथ कार्यमिति प्रवादिनः। मिथो हि पूर्वापर-रात्र-मुत्थिता विचिन्तयां चापि बभूवुरुत्सुकाः। (॥) [३०] अपीह लोके सकले सुदर्शनं पुमां (मान्) हि दुर्दर्शनतां गतं (तः क्षणात्।

१८. भवेन्नु सो [*] म्भोनिधि-तुल्य दर्शनं सुदर्शनं [–⏑⏑–⏑–⏑–] [॥३१*] [⏑–⏑––⏑] वर्णे स भूत्वा पितुः परां भक्तिमपि प्रदर्श्य। धर्मं पुरोधाय शुभानुबन्धं राज्ञो हितार्थं नगरस्य चैव। (॥) [३२*] संवत्सराणामधिके शते तु]

१९. त्रिंशद्भिरन्यैरपि सप्तभिश्च। [गुप्त-प्रकाले नय]-शास्त्रवेत्ता विश्वो [ऽ*] प्यनुज्ञात-महाप्रभावः। (॥) [३३*] आज्य-प्रणामैः विबुधान-थेष्ट्वा धनैर्द्विजातीनपि तर्पयित्वा। पौरांस्तथा [ऽ*] भ्यर्च्य यथार्ह-मानैः भृत्यांश्च पूज्यान्सुहृदश्च दानैः। (॥) [३४*]

२०. ग्रैष्मस्य मासस्य तु पूर्व-प[क्षे] [⏑–⏑––प्र]थमे [ऽ*] ह्नि सम्यक्। मासद्वयेनादरवान्स भूत्वा धनस्य कृत्वा व्ययमप्रमेयम्। (॥) [३५*] आयामतो हस्त-शतं समग्रं विस्तारतः षष्ठिरथापि चाष्टौ।

२१. उत्सेधतो [ऽ*]न्यत् पुरुषाणि [सप्त ? ⏑–⏑– ह]स्त-शत-द्वयस्य। (॥) [३६*] बबन्ध यत्नान्महता नृदेवान [भ्यर्च्य ?] सम्यग्घटितोपलेन। अ-जाति-दुष्टम्प्रथितं तटाकं सुदर्शनं शश्वत-कल्प-कालम्। (॥) [३७*]

२२. अपि च सुदृढ सेतु-प्रान्त (?-) विन्यस्त-शोभ-रथचरण-समाह्वक्रौंच-हंसाव-धूतम्। विमल-सलिल [–––⏑–––⏑––] भुवि त [⏑⏑⏑–––] द [ने] (ऽ*) र्कः शशी च। (॥) [३७]*

२३. नगरमपि च भूयाद्वृद्धिमत्पौर-जुष्ट द्विज-बहु-शत-गीत-ब्रह्मनिर्नष्ट-पापम्। शतमपि च समानामीति-दुर्भिक्ष [मुक्तं⏑⏑⏑⏑⏑⏑

– – – ⌣ – – ⌣ – –] [॥३६*] [इति सुद]र्शन-तटाक-रचना [स]माप्ता ॥

खण्ड २

२४. दृप्तारि-दर्पप्रणुदः पृथु-श्रियः स्व-वं-श-केतोः सकलावनी-पतेः । राजाधिराज्याद्भुत-पुण्य [कर्मणः] [⌣ – ⌣ – – ⌣ ⌣ – ⌣ – ⌣ – – ⌣] ॥ [४०*] [– – ⌣ – – ⌣ ⌣ – ⌣ – – – – ⌣ – – ⌣ ⌣ – ⌣ – –] [।] द्वीपस्य गोप्ता महतां च नेता दण्डस्थि[ता] नां

२५. द्विषतां दमाय । (॥) [४१*] तस्यात्मजेनात्म-गुणान्वितेन गोविन्द-पादार्पित-जीवितेन । [– – ⌣ – – ⌣ ⌣ – ⌣ ⌣ – ⌣ –]र्घं विष्णोश्च पाद-कमले समवाप्य तत्र । अर्थ-व्ययेन

२६. महता महता च कालेनात्म-प्रभाव-नत-पौर-जनेन तेन । (॥) [४३*] चक्रं बिभर्ति रिपु [– – ⌣ – ⌣ ⌣ – – – – ⌣ – ⌣ ⌣ ⌣ – ⌣ ⌣ – – ⌣ – –] [।] [– – ⌣ – ⌣ ⌣ ⌣ – ⌣ – –] तस्य स्व-तंत्र-विधि-कारण-मानुषस्य । (॥) [४४*]

२७. कारितमवक्र-मतिना चक्रभृतः चक्रपालितेन गृहम् । वर्ष-शते[ऽ*]ष्टाविंशे क्रम-गणिते] [॥ ४५*] [– – ⌣ – ⌣ ⌣ ⌣ – ⌣ ⌣ – ⌣ ⌣ – – – – ⌣ – ⌣ ⌣ ⌣ – ⌣ ⌣ – –] [।*] [सा]र्थमुत्थितमिवोर्जयतो [ऽ*] चलस्य

२८. कुर्वत्प्रभुत्वमिव भाति पुरस्य मूर्ध्नि ॥(४६*] अन्यच्च मूर्द्धनि सु [– ⌣ ⌣ – ⌣ – – – – ⌣ – ⌣ ⌣ – ⌣ ⌣ – ⌣ – –[।*] – – ⌣ – ⌣ ⌣ ⌣]

२९. रुद्ध-विहंग-मार्गं विभ्राजते ⌣ ⌣ ⌣ – ⌣ ⌣ – ⌣ – –[॥४७*]

(२) कहौम स्तम्भ लेख (गु० स० १४१)

१. सिद्धम् [॥*] यस्योपस्थान-भूमिर्नृपति-शत-शिरः-पात-वाता-वधूता

२. गुप्तानां वंशजस्य प्रविसृत-यशसस्तस्य सर्वोत्तमर्द्धेः : [।*]
३. राज्ये शक्रोपमस्य क्षितिप-शत-पतेः स्कन्दगुप्तस्य शान्ते
४. वर्षे त्रिशद्वशैकोत्तरक-शततमे ज्येष्ठ-मासि प्रपन्ने । (।।) [१*]
५. ख्याते [ऽ*] स्मिन्ग्राम-रत्ने कुकुभ इति जनैस्साधु-संसर्ग-पूते ।
६. पुत्रो यस्सोमिलस्य प्रचुर-गुण-निधेर्भट्टिसोमो महा [त्म] र [।*]
७. तत्सूनू रुद्रसोम [:*] पृथुल-मति-यशा व्याघ्र इत्यन्य-संज्ञो ।
८. मद्रस्तस्यात्मजो [ऽ*] भूद्द्विज-गुरु-यतिषु प्रायशः प्रीतिमान्यः । (।।) [२*]
९. पुण्य-स्कन्धं स चक्रे जगदिदमखिलं संसरद्वीक्ष्य भीतो
१०. श्रेयोर्त्थं भूत-भूत्यै पथि वि (नि) यमवतामर्हतामादिकर्तॄन् [।*]
११. पञ्चेन्द्रां (न्) स्थापयित्वा धरणि-धरमयान्सन्निखातस्ततो [ऽ*]यम्
१२. शैल-स्तम्भः सुचारुर्गिरिवर-शिखराग्रोपमः कीर्त्ति-कर्त्ता [।।*] [३*]

(३) सुपिया (गु० स० १४१)

१. [श्री] घ[टो]त्कच (:*) तद्वंशे प्रव[र्त्तमा*]-
२. [ने*] महार [ा*] ज – [श्रीसमुद्रगु] प्त:*) त [त्पु]-
३. [त्र] – श्री विक्रमा [दित्य] (: *) त [त्पुत्र-महारा [ज]-
४. [श्री] महे [न्द्रादित्य] [: *) तस्य [पु*] त्र (: *) चक्रं [व]-
५. [र्ति] तु [ल्यो] [महा] बलविक्र [मे] ण र [ाम]-
६. [तु] ल्यो ध [र्म्म] प [र] तया युधिष्ठिर स [त्ये]-
७. नचरवि [नय] महाराज – श्रीस्क [न्द]
८. गुप्तस्य राज्य [सम्व] त्सरशते एक-
९. चत्वारि [न्शोत्त] रके (। *) [अस्यां] दिवसपू-
१०. र्व्वायां (याम्) अवडर-वास्तव्य-कुटुम्बि [क *)-
११. कैवर्त्तिश्रेष्ठि-नप्तृ (प्ता) हरिश्रेष्ठि-पु [त्र] :* श्रीद-
१२. [त्त] (:।*) तद्भ्रातृ (ता) वर्ग्ग (:।*) त [द्भ्रा] त (ता) च्छ (छ) न्दक [श्चेति*) (।*)
१३. स्वपुण्याप्यायनार्थं यशः-की-
१४. [र्त्ति] – प्रवर्ध (य*) मान-गोत्र-शैलिका बल-य-

१५. ष्ठि (ष्टः) प्रतिष्ठापिता वर्ग्गग्रामिकेण
१६. जे (ज्ये) ष्ठमास-शुक्लपक्षस्य द्विती-
१७. [यायां] ति [थौ] (॥*)

४. इन्दौर ताम्रपत्रलेख (गु० स० १४६)

१. सिद्धम् [।*] यं विप्रा विधिवत्प्रबुद्ध-मनसो ध्यानैक-ताना (न)-
स्तुवः (स्तवाः) यस्यान्तं त्रिदशासुरा न विविदुर्न्नोर्ध्वं न तिर्य-
२. ग्गति [म्] [।*] यं लोको बहु-रोग-वेशविविशः संश्रित्य चेतो-लभः
पायाद्वः स जगत्पिधान-पुटभिद्ररश्म्या-
३. करो भास्करः ॥ [१॥*) परमभट्टारक-महाराजाधिराज-श्री-स्कन्ध-
गुप्तस्याभि विजय-राज्य-संव्वसर-शते षच्च (ट्च-) त्वा-
४. [रि] शदुत्तरतमे फाल्गुनमासे तप्त [।*] द परिगृहीतस्य विषय-
पति-शर्व्वनागस्यान्तर्व्वेद्यां भोगाभिवृद्धये वर्त्त-
५. माने [।*] चन्द्रापुरक-पद्मा-चातुर्व्विद्य-सामान्य-ब्राह्मण-देवविष्णु-
र्देवपुत्रो हरित्रात-पौत्रः डुडिक-प्रपौत्रः सतताग्नि-हो-
६. त्र-छ (च्छ) न्दोगो राणायणी (नी) यो वर्षगण-सगोत्र इन्द्रापुरक-
वणिग्भ्यां क्षत्रियाचलवर्म-भृ (भ्रु) कुण्ठसिंहाभ्यामधिष्टा (ष्ठा)-
७. नस्य प्राच्यां दिशीन्द्रपुराधिष्ठान-माडास्यात-लग्नमेव प्रतिष्ठापितक-
भगवते सवित्रे दीपोपयोज्यमात्म-यशो-
८. (ऽ*) भिवृद्धये मूल्यं प्रयच्छतिः (ति) [॥*] इन्द्रपुरनिवासिन्य-
स्तैलिक-श्रेण्या जीवन्त-प्रवराया इतो (ऽ*) धिष्ठानादपक्रम-
९. ण-संप्रवेश-यथास्थिरायाः आजस्रिकं ग्रहपतेर्द्विज-मूल्य-दत्तमनया तु
श्रेण्या यदमग्न-योग्यम् (गं)
१०. प्रत्थ (थ) माहव्य [व*] च्छिन्न-संस्थं देयं तैलस्य तुल्येन पल-द्वयं
तु । चन्द्रार्क्क-सम-कालीनं [॥*]
११. यो व्यक्रमेद्दायमिमं निबद्धम् (द्धं) गो-घ्नो गुरुघ्नो द्विज-घातकः सः
[।*) तैः पातकैः (*)
१२. पञ्चभिरन्वितो [ऽ*] धर्ग (धो ग) च्छेन्नरः सोपनिपातकैश्चेति
॥ [२*]

(५) भित्तरी स्तंभलेख

१. [सिद्धम्] [।।] सर्व्व]-राजो [च्छे] त्तुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधि-सलिलास्वादित-यशसो धनदवरुणेन्द्र (ा] न्तक-स [मस्य]

२. कृतान्त-परशोः न्यायागत [ा] नेक-गो-हिरण्य-क [ो] टि-प्रदस्य चिरो]त्स] न्नाश्वमेधाहर्त्तुर्महाराज-श्री-गुप्त-प्रपौत्र [स्य]

३. महाराज-श्री-घटोत्कच-पौत्रस्य महाराजाधिराज-श्री-चन्द्रगुप्त-पुत्रस्य लिच्छवि-दौहित्रस्य महादेव्यां कुम [ा] र [दे] व्या-

४. मुत्पन्नस्य महाराजाधिराज-श्री-समुद्रगुप्तस्य पुत्रस्तत्परिगृहीतो महा-देव्यान्दत्तदेव्यामुत्पन्नः स्वयं चाप्रतिरथः

५ परम-भागवतो महाराजाधिर [ा] ज-श्री-चन्द्रगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानु-ध्यातो महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नः परम-

६. भागवतो महाराजाधिर [ा]-श्री-कुमारगुप्तस्तस्य—प्रथित-पृथु मति-स्वभाव-शक्तेः पृथु-यशसः पृथिवी-पतेः पृथु-श्रीः [ा]

७. पि [तृ]-प] रि] गत-पाद-पद्मवर्त्ती प्रथित-यशाः पृथिवी-पतिः सुतो [ऽ*] यम् [।।१।।*] जगति भु [ज]-बलाढ्यो [ढ्यो] गुप्त-वंशैक-वीरः प्रथित-विपुल-

८. धामा नामतः स्कन्दगुप्तः [] सुचरित-चरितानां येन वृत्तेन वृत्तं न विहतममलात्मा तान-धीदा (?)-विनीतः [।।२।।*] विनय-

९. बल-सुनीतैर्व्विक्रमेण क्रमेण प्रतिदिनमभियोगादीप्सितं येन ल[ब्ध्व] ा [।*] स्वभिमत-विजिगीषा-प्रोद्यतानां परेषां प्रणि-

१०. हित इव ले [भे सं] विधानोपदेशः [।।३।।*] विचलित-कुल-लक्ष्मी स्तम्भनायोद्यतेन क्षितितल-शयनीये येन नीता त्रियामा [ा*]समु-

११. दित-बल-कोषान्पुष्यमित्रांश्च [जि] त्वा क्षितिप-चरण-पीठे स्थापितो वाम-पादः [।।४।।*] प्रसभमनुप [मै] र्व्विध्वस्त-शस्त्र-प्रतापैर्विन-[य-स] मु-

१२. [चितैश्च] क्षान्ति-शौर्यै] र्न्निरूढम् [।*] चरितममल-कीर्त्तेर्गीयते

यस्य शुभ्रं दिशि-दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः [॥५॥*] पितरि दिवमुपे [ते]

१३. विप्लुतां वंश-लक्ष्मीं भुज-बल-विजितारिर्य्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः [।*] जितमिति परितोषान्मातरं सास्रनेत्रां हत-रिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपे-

१४. [तः] [॥१६॥*] [स्वै] र्द [ण्डैः ⏑⏑] र (?) त्यु [-] त्प्रचलितं वशं प्रतिष्ठाप्य यो बाहुभ्यामवनिं विजित्य हि जितेष्वार्त्तेषु कृत्वा दयाम् [।*] नोत्सिक्तो [न] च विस्मितः प्रतिदिनं

१५. संवर्द्धमान-द्युतिः गीतैश्च स्तुतिभिश्च वन्दक-ज [नो ?] यं प्रापयत्यार्य्यताम् [॥६॥*] हूणैर्य्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कंपिता भीमावर्त्त-करस्य

१६. शत्रुषु शराः [– – ⏑ – पातिताः ? ।*] – – – ⏑⏑ – ⏑। विरचितं (?) प्रख्यापितो [दीप्ति-दा ?] न द्यो (?) ति [⏑] नभो षु[?] लक्ष्यत इव श्रोत्रेषु गाङ्ग-ध्वनिः [॥८॥*]

१७. [स्व]-पितुः कीर्ति— * * * * * * ⏑ – * [।*] * * * * ⏑ – * * * * * ⏑ – ⏑* [॥९॥*] [कर्त्तव्या] प्रतिमा काचित्प्रतिमां तस्य शार्ङ्गिणः [।*]

१८. [सु] प्रतीतश्चकारेमां [यावदाचन्द्र-तारकम् [॥१०॥*] इह चैनां प्रतिष्ठाप्य सुप्रतिष्ठाप्य सुप्रतिष्ठित-शासनः [।*] ग्राममेनं स विदधे पितुः पु [ण्य] ाभिवृद्धये [॥११॥*

१९. अतो भगवतो मूर्तिरियं यश्चात्र संस्थितः (?) (।*] उभयं निर्दिदेशासौ पितुः पुण्याय पुण्य-धीरिति (॥१२॥*)

(६) गढ़वा प्रस्तर लेख (वर्ष १४८)

१. ·········स्य प्रवर्द्धमानविनयराज्यसंव्वत्सरशतेष्वष्टचत्वारिंशदुत्तरे माघमासदिवसे एकविंशतिमे [।*]

२. ·········पुण्याभिवृद्धयर्थं वडभीं कारयित्वा अनन्तस्वामिपादां प्रतिष्ठाप्य गन्धधूपस्रग्···

३. ·········स् [फु] टप्रतिसंस्का॰करणार्थं भग [व] च्चित्रे [कू] ट स्वामिपादीयकोष्ठे (?) तप्रावेश्यमति

४. ·········ला दत्ता द्वादश [।।*] यैनं व्यु [f] च्छन्द्या [।] त्स पंचभिः महापातकैः सं [यु] क्तः स्यादिति [।।*]

द्वितीय कुमारगुप्त का अभिलेख

सारनाथ बौद्ध प्रतिमा लेख (गु० सं० १५४)

१. वर्षशते गुप्तानां सचतुःपञ्चाशदुत्तरे [।*]
भूमिं रक्षति कुमारगुप्ते मासि ज्येष्ठे द्वितीयायाम् ।।

२. भक्त्यावर्जित-मनसा यतिना पूजार्त्थमभयमित्रेण [।*]
प्रतिमा-प्रतिमस्य गुणैं [र] प [रे] यं [का] रिता शास्तुः ।।

३. माता-पितृ-गुरु-पू [र्व्वै]: पुण्येनानेन सत्त्व-कायो (ऽ*) यं
[।*] लभतामभिमतमुपशम-f * * * * म् ।।

पुरुगुप्त के अभिलेख

विहार शिलालेख

खण्ड १

१. ⏑ – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – –
⏑ – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – –: (।*)
नृ-चन्द्र इन्द्रानुज-तुल्य-वीर्य्यो
गुणैरतुल्यः ⏑⏑ – ⏑ – – (।।*)

२. – – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – –
– – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – – (।*)
तस्यापि सूनुर्भुवि स्वामि-नेयः
ख्यातः स्व-कीर्त्या ⏑⏑ – ⏑ – – (।।*)

३. ⏑ – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – –
⏑ – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – – (।*)
[स्व] सैव यस्यातुल-विक्रमेण
कुमारगु [प्तेन] ⏑ – ⏑ – – (।*।)

४. – – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – –
– – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – – (।*)
[पि] तृश्च देवांश्च हि हव्य-कव्यैः
सदा नृशंस्यादि ⏑ – ⏑ – – (।।*)

५. ⏑ – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – ⏑ –
⏑ – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – ⏑ –
[श्रे] चीकरद्देव-निकेत-मण्डलं
क्षितावनौपम्य ⏑ – ⏑ – ⏑ – (।।*)

६. ......[स्कन्दगुप्त] [वटे?] किल (।*)
स्तम्भ-वरोच्छ्रिय-प्रभासे तु मण्ड......(।।*)

७. ....भिवृक्षाणां (णाम्) (।*)
कुसुम-भरानताग्र-[शृंग]-व्यालम्ब-स्तबक......(।।*)

८. – – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – –
– – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – –
भद्रार्य्यया भाति गृहं नवाभ्र-
निर्म्मोक-निर्मु [क्त] ⏑ – ⏑ – – (।।*)

९. – – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – –
– – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – – (।*)
स्कन्ध-प्रधानैर्भुवि मातृभिश्च
लोकान्स सुप्य (?) ⏑⏑ – ⏑ – – (।।*)

१०. – – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – –
– – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – –
– – ⏑ – – ⏑⏑ – ⏑ – –
– – ⏑यूपोच्छ्रयमेव चक्रे (।।*)
भद्रार्य्यादी ....

११. ...[स्क] न्दगुप्त-वटे अंशानि ३० (+*) ता (?) अकटा-
कु (?) कल.........

१२. ······पितुः स्वमातुर्य्यश्रस्ति हि दुष्कृतं भजतु तने··· ··
१३. ······काग्रहारे श्रंशानि ३ श्रनन्तसेनेनोप···············

दूसरा खण्ड

१४. ······[सर्व्व-राजोच्छे*] त्तुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य
१५. [चतुरुदधि-सलिलास्वादितयशसो धनद-वरुणे*]न्द्रान्तकसमस्य कृतान्त-
१६. [परशोः न्यायागतानेक-गो हिरण्य-कोटि-प्रदस्य चिरो*] त्सन्नाश्वमेधा-हर्त्तुः
१७ [महाराज-श्रीगुप्त प्रपौत्रस्य महाराज-श्रीघटो*] त्कचपौत्रस्य महाराजा-
१८. [धिराज-श्री चन्द्रगुप्त-पुत्रस्य लिच्छवि-दौहित्रस्य म*] हादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य
१९. [महाराजाधिराज-श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्र *]स्तत्परिगृहीतो महादेव्यां
२०. [दत्तदेव्यामुत्पन्नः स्वयं चाप्रतिरथः पर*] मभागवतो महाराजा-
२१. [धिराज-श्रीचन्द्रगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्धया] तो महादेव्यां ध्रुव-देव्या-
२२. [मुत्पन्नः परम-भागवतो महाराजाधिराज-श्री कुमारगुप्तस्तस्य*] पुत्रस्तत्पादानुद्धयातः
२३. [परम-भागवतो महाराजाधिराज श्री स्क*] न्द गुप्तः [।।*]
२४. [·········परमभागवतो
२५. [महाराजाधिराज-श्रीस्कन्दगुप्तः *] ·· ···[वि*] पयिकाजपुरक-सामै [श्रा] [म*]-
२६. ········ग्रा . . क . . [अ*] क्षय-नीवो ग्रामक्षेत्रं
. . . . कु . . . उपरिक-कुमारामात्य-
२८. . . . . ङ्गिकुलः (?) वरिण (ज*) क-पादितारिक-
२९. . . . . [श्रा*] ग्रहारिक-शौल्किक गौल्मिकास-न्याश्र (?)-
३०. . . . . वा [शि] कादीनस्मत्प्रसादोपजीविनः

३१. [समाज्ञापयामि*] . . . . .वर्म्मणा विज्ञापितो (ऽ*) स्मि मम पितामहेन

३२. . . . . न मे भट्ट-गुहिलस्वामिना भद्रा [र्य्य] का

३३. . . . . [प्र] ति . . . . .ग्राग्रोकय . . . नाकय . . . .

बुधगुप्त का लेख

सारनाथ बौद्ध प्रतिमा लेख (गं सं० १५७)

१. गुप्तानां समतिक्रान्ते सप्तपंचाशदुत्तरे [।*]
शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति ।।
[वैशाख-मास-सप्तम्यां मूले श्याम-गते *]

२. मया [।*]
कारिताभयमित्रेण प्रतिमा शाक्य-भिक्षुणा ।।
इमामुद्दण्डसच्छत्र-पद्मास [न-विभूषितां !*]
[देवपुत्रवतो दिव्यां *]

३. चित्रवि [द्या]-सचित्रितां ।।
यदत्र पुण्यं प्रतिमां कारयित्वा मया भृतम् [।*]
माता-[पित्रोर्गु] [रूणां च लोकस्य च समाप्तये ।।*]

पहाड़पुर लेख (गु० सं० १५६)

प्रथम-खण्ड

१. स्वस्ति [।।*) पुंड्र [वर्द्ध] नादायुक्तका आर्य्यनगरश्रेष्ठि-पुरोगञ्चा-धिष्ठानाधिकरणं दक्षिणांशकवीथेय-नागिरट्ट-

२. माण्डलिक-पलाशाट्टपार्श्विक-वटगोहाली-जम्बुदेवप्रावेश्यपृष्ठिमपोत्तक-गोघाट-पुञ्जक-मूलनागिरट्टप्रावेश्य-

३. नित्वगोहालीषु ब्राह्मणोत्तरान्महत्तरादि-कुटुम्बिनः कुशलमनुवर्ण्यानु-बोधयन्ति (।*)
विज्ञापयत्यस्मान्ब्राह्मण-नाथ

४. शर्म्मा एतद्भार्य्या रामी च (।*) युष्माकमिहाधिष्ठानाधिकरणे द्विदीनारिक्क्य-कुल्य-वापेन शश्वत्कालो[illegible]

५. प्रतिकर-खिलक्षेत्रवास्तु-विक्क्रयो (ऽ*) नुवृत्तस्तदर्हथानेनैव क्रमे-
णावयोस्सकाशाद्दीनारत्रयमुपसंगृह्यावयो (:*) स्व-पुण्याप्या-

६. यनायवटगोहाल्यामवास्याङ्काशिक-पञ्चस्तूपनिकायिक-निर्ग्रन्थश्रमणा-
चार्य्य-गुह-नन्दि-शिष्यप्रशिष्याधिष्ठित-विहारे

७. भगवतामर्हतां गन्ध-धूप-सुमनो-दीपाद्यर्थन्तलवाटक-निमित्तञ्च अ (तः)
एव वट-गोहालीतो वास्तु-द्रोणवापमध्यर्द्धञ्ज-

८. म्बुदेवप्रावेश्य-पृष्ठिमपोत्तके त्क्षे (क्षे) त्रं द्रोणवाप-चतुष्टयं गोघाट-
पुञ्जाद्द्रोणवाप-चतुष्टयं मूलनागिरट्ट-

९. प्रावेश्य-नित्वगोहालीतः अर्द्धत्रिक-द्रोणवापानित्येवमध्यर्द्धं क्षेत्रकुल्य-
वापमक्षय-नीव्या दातुमि [ति] (।*) यतः प्रथम-

१०. पुस्तपालदिवाकरनन्दि —पुस्तपालधृतिविष्णु-विरोचन-रामदास-हरि-
दास-शशिनन्दि-[सु०] प्रभ-मुनुद [प्रभ-मनुदत्ताना] मवधारण-

११. यावधृतम् अस्त्यस्मदधिष्ठानाधिकरणे द्विदीनारिक्क्य-कुल्यवापेन
शश्वत्कालोपभोग्याक्षयनीवी-समु [दय] वाह्याप्रतिकर-

१२. [खिल*] क्षेत्रवास्तु-विक्क्रयो (ऽ*) नुवृत्तस्तद्युष्मान्ब्राह्मण-नाथशर्म्मा
एतद्भार्या रामी च पलाशाट्टपार्श्विक-वटगोहाली-स्थ [ायि]-

द्वितीय-खण्ड

१३. [काशि*] क-पञ्चस्तूपकुलनिकायिक-आचार्य्य-निर्ग्रन्थ-गुहनन्दि-शिष्य-
प्रशिष्याधिष्ठित-सद्विहारे अर्हतां गन्ध [धूप] द्युपयोगाय

१४. [तल-वा*] टक-निमित्तञ्च तत्रैव वटगोहाल्यां वास्तु-द्रोणवापमध्यर्द्ध
क्षेत्रञ्जम्बुदेव-प्रावेश्य-पृष्ठिमपोत्तके द्रोणवाप-चतुष्टयं

१५. गोघाटपुञ्जाद्द्रोणवाप-चतुष्टयं मूलनागिरट्ट-प्रावेश्य-नित्वगोहालीतो
द्रोणवाप-द्वयमाढवा [प-द्व] याधिकमित्येवम-

१६. ध्यर्द्ध क्षेत्र-कुल्यवापम्प्रार्थयते (ऽ*) त्र न कश्चिद्विरोधः गुणस्तु
यत्परमभट्टारक-पादानामर्थोपचयो धर्म्म-षड्भागाप्याय-

१७. नञ्च भवति (।*) तदेवङ्क्रियतामित्यनेनावधारणा-क्क्रमेणास्माद्-
ब्राह्मणनाथशर्म्मत एतद्भार्य्यारामियाश्च-दीनार-त्र-

१८. यमायीकृत्यैताभ्यां विज्ञापितक-क्रमोपयोगायोपरि-निर्दिष्ट-ग्राम-गोहालि-
केषु तलवाटक (कं) वास्तुना सह क्षेत्रं

१६. कुल्यवाप (:*) अध्यर्द्धो (ऽ*) क्षय-नीवी-धर्म्मेण दत्तः (।*) कु १
द्रो ४ (।*) तद्युष्माभिः स्व-कर्षणाविरोधि-स्थाने पट्क-नडैरप-

२०. विञ्च्छ्य दातव्यो (ऽ*) क्षय-नीवी-धर्म्मेण-च शश्वदाचन्द्रार्क्कतारक-
कालमनुपालयितव्य इति (।।*) सम् १०० [+*) (+*)

२१. माघ-दि ७ (।*) उक्तञ्च भगवता व्यासेन (।*)
स्व-दत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम् (।*)

२२. स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिस्सह पच्यते (।।*)
षष्टि वर्षसहस्राणि स्वर्ग्गे वसति भूमिदः (।*)

२३. आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् (।।*)
राजभिर्ब्बहुभिर्दत्ता दीयते च पुनः पुनः (।*)
यस्य यस्य

२४. यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् (।।*)
पूर्व्वदत्तां द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर (।*)
महीम्महीमतां श्रेष्ठ
दानाच्छ्रेयो (ऽ*) नुपालनं (नम्) (।।*)

२५. विन्ध्याटवीष्वनम्भस्सु शुष्क-कोटर-वासिना (:*) (।*)
कृष्णाहिनो हि जायन्ते देव-दायं हरन्ति ये (।।*)

रालघाट स्तम्भ लेख (गु० सं० १५६)

स (म्व) १०० (+) ५०+६ म.र्गदि० २०+८ महाराजाधिराज
बुधगुप्तराज्ये पार्वरिक वास्तव्य मार (विप १) दुहिता भाठि दुहिता
च दामस्वामिन्या शिलास्तम्भः स्थापितः ।

दामोदरपुर ताम्रपत्र लेख (गु० सं० १६३) [पहली ओर]

१. [सं १००*] (+*) [६०] ३ आपाढ-दि १० (+*) ३
परमदैवत-परम-भट्टा [र] क-महाराजाधिराज-श्रीबुधगुप्ते [पृथि-]
वी-पतौ-तत्पाद-[परि-] गृहीते पुण्ड्र [व]-

२. [र्द्धन] भुक्तावुपरिक-महाराज-ब्रह्मदत्ते संव्यवहरति [।*] स्व [स्ति]
[।*] पलाश-वृन्दाकात्सविश्वासं महत्तराद्यष्टकुलाधि [क]-

३. [र] ण-ग्रामिक-कुटुम्बिनञ्च चण्डग्रामके ब्राह्मणाद्यान्क्षुद्र-प्रकृति-कुटुम्बिनः कुशलमुक्त्वानुदर्शयन्ति [यथैवं ?]

४. [वि] ज्ञापयति नो ग्रामिक-नामको [ऽ*] हमिच्छे मातापित्रोस्त्व-पुण्याप्यायनाय कतिचिद्ब्राह्मणार्य्यान्प्रतिवासयितुं

५. [तद्] ईय ग्रामानुक्रम-विक्रय-मर्य्यादया मत्तो हिरण्यमुपसंगृह्य समुदय-वाह्याप्रद-[खिल-क्षेत्राणा] [.]

६. [प्र] सादं कर्त्तुमिति [।*] यतः पुस्तपाल-पत्रदासेनावधारितं युक्तमनेन विज्ञापित-मस्त्ययं-विक्रय-

७. मर्य्यादा-प्रसङ्गस्तद्दीयतामस्य परमभट्टारक-महाराज-पा [दे] न पुण्योपचयायेति [।*] पुनरस्यैव

८. [पत्रदा] सस्यावधारणयावधृत्य नाभक-हस्ताद्दीनार-[द्वय] मुपसंगृह्य स्थायपाल-कपिल-श्री भद्राभ्यामायक्त [त्य] च समदय-

(दूसरी ओर)

९. [बाह्याप्रद*]-[खि] ल-क्षेत्रस्य कुल्यवापमेकमस्य बाथिग्रामकोत्तर-पार्श्वस्यैव च सत्य-मर्य्यादया दक्षिण-पश्चिम-पूर्व्वेण

१०. मह [त्त] राद्यधिकरण-कुटुम्बिभिः प्रत्यवेक्ष्याष्टक-नवक-नवक-नला-भ्यामपविञ्छ्य चतुस्सीमालिङ्गच च नागदेवस्य

११. [दत्तं] [।*] [तदु] त्तर-कालं संव्यवहारिभिर्द्धर्म्ममवेक्ष्य प्रतिपालनीय-मुक्तञ्च महर्षिभिः [।*]

स्वदत्ताम्परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम् ।

१२. [स विष्ठा] यां कृमिर्भूत्वा पितृभिस्सह पच्यते [।।]

बहुभिर्व्वसुधा दत्ता राजभिस्सगरादिभिः [।*]

यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य

तदा फलम् [।।*]

१३. षष्टि-वर्ष-सहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिदः [।*]

आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेदिति ।।

एरण स्तंभ लेख (गु० सं० १६५)

१. जयति विभुश्चतुर्भुजश्चतुरर्णव-विपुल-सलिल-पर्य्यङ्कः [।]

जगतः स्थित्युत्पत्ति-न्य [यादि*]-

२. हेतुर्गरुड-केतुः (।।*)
शते पञ्चषष्ट्यधिके वर्षाणां भूपतौ च बुधगुप्ते ।
आषाढ-मास [शुक्ल]-

३. [द्वा] दश्यां सुरगुरोर्दिवसे । [।*]
सं० १०० (+*) ६० (+*) ५ [।।*]
कालिन्दी-नर्म्मदयोर्म्मध्यं पालयति लोकपाल-गुणै-
र्ज्जगति महा [राज]-

४. श्रियमनुभवति सुरश्मिचन्द्रे च । [।*]-
अस्यां संवत्सर-मास-दिवस-पूर्व्वायां स्वकर्म्माभिरतस्य क्रतु-याजि [नः]

५. अधीत-स्वाध्यायस्य विप्रर्षेर्म्मैत्रायणीय-वृषभस्येन्द्रविष्णोः प्रपौत्रेण पितुर्गुणानुकारिणो वरुण [विष्णोः]

६. पौत्रेण पितरमनुजातस्य स्ववंश-वृद्धि-हेतोर्हरिविष्णोः पुत्रेणात्यन्त-भगवद्भक्तेन विधातुरिच्छया स्वयंवरयेव र [ा[ज-

७. लक्ष्म्याधिगतेन चतुःसमुद्र-पर्य्यन्त-प्रथित-यशसा अक्षीण-मानधने-नानेक-शत्रु-समर-जिष्णुना महाराज-मातृविष्णुन [ा]

८. तस्यैवानुजेन तदनुविधायिन [ा] तत्प्रसाद-परिगृह [ही] तेन धन्य-विष्णुना च । मातृ-पित्रोः पुण्याप्यायनार्थमेष भगवतः ।

९. पुण्यो जनार्दनस्य ध्वजस्तम्भो (ऽ*) भ्युच्छ्रितः [।।*] स्वस्त्यस्तु गो-ब्राह्मण-[पु] रोगाभ्यः सर्व्व-प्रजाभ्य इति । [।*]

(पहली ओर)

दामोदरपुर ताम्रपत्र लेख

१. ... ... फाल्गुन-दि० १० (+*) [५] परमदैवत-परमभट्टारक-महाराज-श्री वंधुगु [प्ते] [पृथिवी*]-

२. [पतौ*] [त*] त्पाद-परिगृहीतस्य पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्तावुपरिक-महाराज-जयदत्तस्य भोगेनानु [वहमा]-

३. नके [को] टि [वर्ष]-विषये च तन्नियुक्तकेहायुक्तक-शण्डके अधिष्ठा-नाधिकरण [·*] नगरश्रेष्ठिरिभु-

४. पा [ल]-सार्त्थवाहवसुमित्र-प्रथमकुलिकवरदत्त-प्रथमकायस्थविप्रपाल-
पुरोगे च स [म्व्य]-वहरति

५. अनेन श्रेष्ठि-रिभुपालेन विज्ञापितं हिमवच्छिखरे कोकामुखस्वामिनः
चत्वारः कुल्यवापाः [श्वे] तव-

६. राहस्वामिनो [ऽ*] पि सप्त कुल्यवापाः अस्मत्कलाशंसिने पुण्याभि-
वृद्धये डोङ्गाग्रामे पूर्व्वं मया

७. अप्रदा अतिसृष्टकास्तदहन्तत्क्षेत्र-समीप्य-भूमौ तयोराद्य-कोकामुख-
स्वामि-श्वेतवराह-

८. स्वामिनोर्ना [म] लिलङ्गमेकं देवकुल-द्वयमेतत्कोष्ठिका-द्वयञ्च कार-
यितुमिच्छाम्यर्हथ वास्तुना

९. सह [कुल्य] वापान्यथाक्रय-मर्य्यादिया दातुमिति [।*] यतः पुस्तपाल-
विष्णुदत्त-विजय-[नन्दि]-स्थाणु-

१०. नन्दिनामवधारणयावधृतमस्त्यनेन हिमवत्छिखरे तयोः कोकामुख-
स्वामि-श्वेतवरा [ह[-स्वामि [नोः]

११. अप्रदा-क्षेत्र-कुल्यबापा एकादश दत्तकास्तदर्थञ्चेह देवकुल-कोष्ठिका-
करणे युक्त [मि[त-[द्विज्ञा]-

१२. [पितं] [क्र] मेण तत्क्षेत्र-समीप्य-भूमौ वास्तु दातुमित्यनुवृत्त-त्रिदीनारि-
क्यकु [ल्यवा] प-विक्रय [मर्य्या] द-

दूसरी ओर

१३. [या*] . . . .

१४. . . . . पु [ष्करि] णी पू [र्व्वेण] रिभु [पा] ल-पु
ष्करिणी ? [दक्षिणेन]

१५. . . . . दत्तः [*] [त] दुत्तरकालं [सं[व्यवहारिभिर्देवभ
[क्त्या] नु-मन्तव्या [उक्तं] व्यासेन [।*]
स्व-दत्तां परदत्ता-

१६. (म्वा यो हरेत) वसुन्धराम् (*)
स विष्टा [यां] कृमिर्भूत्वा पि [तृ] भिस्स [ह पच्यते] (।।*)
पूर्व्व-दत्तां द्विजातिभ्यो

१७. महीं [महीभतां] श्रेष्ठ दा [नाच्छ्रे यो (ऽ*) नुपालन[[।।*] म्
[बहु] भिर्व्वसु [धा द] त्ता
[राजभिश्च पुनः पुनः [*]
[य] स्य यस्य यदा भूमि[स्तस्य तस्य] त [दा] फलम् ।। इति ।। [।।*]

वैन्यगुप्त का लेख

गुणैधर ताम्रपत्र लेख (गु० सं० १८८)

पहली ओर

१. स्वस्ति [।।*] महानौ-हस्त्यश्व-जयस्कन्धावारात्क्रीपुराद्भगवन्महादेव-
पादानुद्ध्यातो महाराज-श्री वैन्यगुप्तः
२. कुशली * * * * * * * स्वपादोपजीविनश्च कुशलमाशंस्य
समाज्ञापयति [।*] विदितं भवतामस्तु यथा
३. मया मातापित्रोरात्मनश्च पु [ण्या] भिव् [द्ध] ये (ऽ*) स्मत्पाददास
महाराजरुद्रदत्त-विज्ञाप्यादनेनैव माहायानिक-शाक्यभिक्ष्वा-
४. चार्य्य-शान्तिदेवमुद्दिश्य गोप [?] . . . . (दिग्भागे ?)
कार्य्यमाणकाय्यावलोकितेश्वराश्रम-विहारे अनेनै-
५. वाचार्य्येण प्रतिपादित [क?]-माहायानिक-वैवर्त्तिक-भिक्षुसंघानाम्परि-
ग्रहे भगवतो बुद्धस्य सततं त्रिकालं
६. गन्ध-पुष्प-दीप-धूपादि-प्र [वर्त्तनाय *] [त*] स्य भिक्षुसंघस्य च
चीवरपिण्डपात-शयनासन-ग्लानप्रत्ययभैषज्यादि-
७. परिभोगाय विहारे [च] खण्ड-फुट्ट-प्रतिसंस्कार-करणाय उत्तार-
माण्डलिकान्ते-उदकग्रामे सर्वतो भो-
८. गेनाग्रहारत्वेनैकादश-खिलपाटकाः पञ्चभिः खण्डैस्ताम्र-पट्टेनाति-
सृष्टाः [।*] अपि च खलु श्रुति-स्मृतिती-
९. हा [स]-विहितां पुण्यभूमिदान-श्रुतिमैहिकामुत्रिक-फल-विशेषे स्मृतो
भावतः समुपगम्य स्वतस्तु पी-
१०. डामप्यूरिकृत्य पात्रेभ्यो भूमि * * * * * * * * * * [।*]
द्विष (?) द्भिरस्म-द्वचन-गौरवात्स्व-यशो-धर्म्मावाप्तये चैते

११. पाटका अस्मिन्वि (?) हारे शश्वत्कालमभ्य [नुपालयितव्याः ।।*]
अनुपालनम्प्रति च भगवता पराशरात्मजेन वेदव्या-

१२. सेन व्यासेन गीताः श्लोका भवन्ति [।*]
षष्टि वर्ष-स [हस्रा] णि स्वर्गे मोदति भूमिदः [।*]
आक्षेप्ता चानुमन्ता च ता-

१३. न्येव न (र*) के वसेत् [।।*]
स्व-दत्तां पर-दत्ताम्वा यो हरेत [वसु] न्धराम् [।*]
महीं महिमतां श्रेष्ठ दानात्श्रेयो [ऽ*] नुपालनम् [।।*]

वर्त्तमानाष्टाशीत्यु–

१५. त्तर-शत-संवत्सरे पौष-मासस्य चतुर्विंशतितम-दिवसे दूतकेन महा-
प्रतीहार-महापीलुपति-पञ्चाधि-

१६. करणोपरिक-पाट्यु परिक-[पुरु?] पुरपालोपरिक-महाराज-श्रीमहा-
सामन्तविजयसेनेनैतदेकादशपाटक-दा-

१७. नायाज्ञामनुभाविताः कुमारामात्य-रेवज्जस्वामी भामह-वत्स-भोगिकाः
[।।*] लिखितं सन्धिविग्रहाधिकरण-काय-

१८. स्थ-नरदत्तेन [।।* यत्रैक-क्षेत्रखण्डे नव-द्रोणवापाधिक-सप्तपाटक-
परिमाणे सीमा-लिङ्गानि [।*] पूर्व्वेण गुणैका-

१९. ग्रहारग्राम-सीमा विष्णुवर्धकि क्षेत्रञ्च [।*] दक्षिणेन मिदुविलाल
क्षेत्रं राज-विहार-क्षेत्रञ्च [।*] पश्चिमेन सूरी नाशीरम्पूर्णोक-

२०. क्षेत्रं [।*] उत्तरेण दोषी-भोग-पुष्करण [ी]... ... ...
[ए*] वम्पियाकादित्य-वन्धु-क्षेत्राणाञ्चसीमा [।।*]

२१. द्वितीय-खण्डस्याष्टाविंशति-द्रोणवाप-परिमाणस्य सीमा [।*] पूर्व्वेण
गुणिकाग्रहारग्राम-सीमा [।*] दक्षिणेन पक्क-

२२. विलाल (?)-क्षेत्रं [।*] पश्चिमेन राजविहार-क्षेत्रम् [।*] उत्तरेण
वैद्य (?)-क्षेत्रं [।*] तृतीय-खण्डस्य त्रयोविंशति-द्रोणवाप-

२३. परिमाणस्य सीमा [*] पूर्व्वेण.........क्षेत्रं [।*] दक्षिणेन नरवद्दा-
च्चरिक (?)-क्षेत्र सीमा [।*] पश्चिमेन

—दूसरी ओर

२४. ज (जो ?) लारी-क्षेत्रम् [।*] उत्तरेण नागी-जोडाक-क्षेत्रं [।।*] चतुर्थस्य त्रिशद्द्रोणवाप-परिमाण-क्षेत्र-खण्डस्य सीमा [।*] पूर्व्वेण

२५. बुद्धाक-क्षेत्र-सीमा [।*] दक्षिणेन कालाक-क्षेत्रं [।*] पश्चिमेन [सू] र्य्य-क्षेत्र-सीमा [।*] उत्तरेण महीपाल-क्षेत्रं [।।*] [प] ञ्चमस्य

२६. पादोन-पाटक-द्वय-परिमाण-क्षेत्र-खण्डस्य सीमा [।*] पूर्व्वेण खण्ड-वि [ड्ड]ग्गुरिक-क्षेत्रं [।*] दक्षिणेन मणिभद्र-

२७. क्षेत्रं [।*] पश्चिमेनयज्ञरात-क्षेत्र-सीमा [*] उत्तरेण नादउदकग्राम-सीमेति [।।*] विहार-तलभूमेरपि सीमा-लिङ्गानि [।*]

२८. पूर्व्वेण चूडामणिनगरश्रीनौयोगयोर्म्मध्ये जोला [।*]दक्षिणेन गणेश्वर-विलाल-पुष्करिण्या नौ-खातः [।*]

२९. पश्चिमेन प्रद्युम्नेश्वर-देवकुल-क्षेत्र-प्रान्तः [।*] उत्तरेण प्रडामार-नौयोगखातः [।।*] एतद्विहारप्रावेश्य-शून्यप्रतिकर-

३०. हुज्जिक-खिल-भूमेरपि सीमा-लिङ्गानि [।*] पूर्व्वेण प्रद्युम्नेश्वर-देव-कुलक्षेत्र-सीमा [।*] दक्षिणेन शाक्यभिक्ष्वाचार्य्य-जित-

३१. सेन-वैहारिक-क्षेत्रावसा (?) नः [।*] पश्चिमेन ह (?) चात-गंग-उत्तरेण दण्ड-पुष्करिणी चेति ।। सं० १०० (+*) ८० (+*] ८ पौष्य-दि २० (+*) ४ [।।*]

भानुगुप्त का लेख

एरण स्तम्भ लेख (गु० सं० १९१)

१. ॅ [।।*] संवत्सर-शते एकनवत्युत्तरे श्रावण-बहुलपक्ष-स[प्त] म्य [ां] [।*]

२. संवत् १०० (+*) ९० (+*) १ श्रावण-वदि ७ ।।
* * वल-वंशादुत्पन्न * *—

३. राजेति विश्रुतः [।*]
तस्य पुत्रो (ऽ*) तिविक्क्रांतो नाम्ना राजाथ माधवः ।।
गोपराज [:]

४. सुतस्तस्य श्रीमान्विख्यात-पौरुषः [।*]
शरभराज-दौहित्रः स्ववंश-तिलको (ऽ*) धुना (?) [।।*]

५. श्रीभानुगुप्तो जगति प्रवीरो
राजा महान्पार्थ-समो (ऽ*)ति-शूरः [।*]
तेनाथ सार्द्धन्त्विह गोपर [ाजो]

६. मित्रानु[गत्येन] किलानुयातः ।।
कृत्वा (च*) [यु]द्धं सुमहत्प्रक [ा] शं
स्वर्गं गतो दिव्य-न [रे ?] [न्द्र-कल्पः *] [।*]

७. भक्तानुरक्ता च प्रिया च कान्ता
भ[ार्य्याव] ल [ग्न]ानुगता[ग्नि] र [ा]शिम् ।।

दामोदरपुर ताम्रपत्र लेख (गु० सं० २२४)

कोटिवर्षाधिष्ठानाधि [करणस्य]।

—पहली ओर—

१. स[म्व] २०० (+*) २० (+*) ४ भाद्र-दि ५ परमदैवत-परम-
भट्टारक-म [हा]-राजाधिराज-श्री ...
२. गुप्ते पृथिवीपतौ तत्पाद-परिगृहीते पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्तावुपरि [क-महाराज]
स्य [महा*]–
३. राजपुत्र-देवभट्टारकस्य हस्त्यश्व-जन-भोगेनानुवहमा [न] के को [टिव]
र्ष-विष[ये] च त–
४. न्नियुक्तकेह्विषयपति-स्वयम्भुदेवे अधिष्ठानाधिकरण (म्*) आर्य्यं
[न] गर-[श्रेष्ठिरिभु] पाल
५. सार्थवाहस्थाणुदत्त-प्रथमकुलिकमतिदत्त-प्रथमकायस्थस्कन्दपाल-पुरोगे
[सं] व्य [वह] रति
६. अयोध्यक-कुलपुत्रक-अमृतदेवेन विज्ञापितमिह विषये समुदयवाह्या-
प्रहता-खिल-[क्षे]त्रा–
७. णां त्रिदीनारिक्यकुल्यवाप-विक्रयो (ऽ*) नुवृत्तः तदर्हथ मत्तो दीनारानु-
पसंगृह्य मन्मातुः [पु]ण्या–
८. भिवृद्धये अत्रारण्ये भगवतः श्वेतवराहस्वामिनो देवकुले खण्ड-फुट्ठ-

प्रति-[संस्का [र]-[क]-

९. रणाय बलिचरुसत्त्रप्रवर्त्तन-गन्धधूपपुष्प-प्रापण-मधुपर्क-दीपाद्युप-
[यो] गा [य] च

१०. अप्रदा-धर्म्मेण ताम्रपट्टीकृत्य क्षेत्र-स्तोकन्दातुमिति [।*] यतः प्रथम-
पुस्तपाल-नर [न]न्दि-

११. गोपदत्तभट (?) नन्दिनामवधारणया युक्त [त] या ध[र्म्माधि]कार-
[बु] द्ध्या विज्ञापित (·*) ना [त्र*] [वि*]-

१२. षय-पतिना (·*) कश्चिद्विरोधः केवलं श्री-परमभट्टारकपादेन धर्म्मप
[र]-

१३. [तावाप्ति] [:*]

—दूसरी ओर—

१४. इत्यनेनावधारणाक्रमेण एतस्मादमृतदेवात्पञ्चदश-दीनारानुपसंगृह्य
एतन्मातु [:*]

१५. अनुग्रहेण स्वच्छन्दपाटके (ऽ*) [र्द्ध] दी-प्रावेश्य-लवङ्गसिकायाञ्च
वास्तुभिस्सह कुल्यवाप-द्वयं

१६. साट्वनाश्रमके (ऽ*)पि वास्तुना सह कुल्यवाप एकः परस्पतिकायां
पञ्च-कुल्य-वापकस्योत्त [रे] ण

१७. जम्बून [द्या]: पूर्व्वेण कुल्यवाप एकः पूरणवृन्दिकहरीपाटक-पूर्व्वेण
कुल्यवाप एकः इत्येवं खिल-क्षेत्र-

१८. स्य वास्तुना सह पञ्च कुल्यवापाः अप्रदा-धर्म्मेण भग (व*) ते श्वेत-
वराहस्वामिने शश्वत्कालभोग्या दत्ताः [।*]

१९. तदुत्तरकालं संव्यवहारिभिः देवभक्त्यानुमन्तव्याः [।*] अपि च भूमि
[दा] न-सम्बद्धाः श्लोका भवन्ति [।*]

२०. स्व-दत्तां पर-दत्ताम्वा यो हरेत वसुन्धराम् [।*]
स विष्ठायां कृमिर्ब्भूत्वा पितृभिस्सह पच्यते [॥*]
बहुभिर्व्वसुधा दत्ता

२१. राजभिस्सगरादिभिः [।] *
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् [॥*]
षष्टि वर्ष-सहस्राणि स्वर्ग्गे मोदति भूमिदः

२२. आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेदिति [॥*]

सहायक-ग्रन्थ-सूची

गुप्त साम्राज्य का इतिहास भाग १-२ — डा० वासुदेव उपाध्याय, इण्डियन प्रेस प्रा० लि० इलाहाबाद

गुप्त साम्राज्य — डा० परमेश्वरीलाल गुप्त, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

गुप्त सम्राट् और उनका काल — उदयनारायण राय, लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद

प्राचीन भारत — डा० राजबली पाण्डेय, नन्दकिशोर एण्ड सन्स वाराणसी

वाकाटक गुप्त युग — अल्तेकर एवं मजूमदार, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास — विमलचन्द्र पाण्डेय, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद

प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास — डा० जयशंकर मिश्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना-३

गुप्तकालीन मुद्रायें — अनन्त सदाशिव अल्तेकर, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना

प्राचीन भारतीय मुद्रायें — डा० वासुदेव उपाध्याय, प्रज्ञा प्रकाशन, पटना

प्राचीन भारतीय अभिलेख — डा० वासुदेव उपाध्याय, प्रज्ञा प्रकाशन, पटना

गुप्त अभिलेख — डा० वासुदेव उपाध्याय, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना-३

भारतीय अभिलेख संग्रह — फ्लीट (अनु० जी० पी० मिश्र, राजस्थान हिन्दू ग्रन्थ अकादमी

पाणिनिकालीन भारत	डा० वासुदेव शरण अग्रवाल चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
धर्म और दर्शन	बलदेव उपाध्याय शारदा मंदिर, वाराणसी-५
हर्षचरित	अनु० कावेल थामसन, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
साहित्यदर्पण	कविराज विश्वनाथ चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी
विष्णुसहस्रनामभाष्य	पाराशर भट्ट वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण
वक्रोक्तिजीवित	आचार्य कुंतक चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी
नाट्यदर्पण	रामचन्द्र गुणचन्द्र दिल्ली प्रकाशन
विश्वधर्मदर्शन	बिहार राष्ट्र भाषा प्रकाशन
हिस्ट्री आफ इण्डिया	इलियट एवं डाऊसन (अनु० मथुरालाल शर्मा) शिवलाल अग्रवाल एण्ड सन्स, आगरा-३
हिस्ट्री आफ इण्डिया	के० पी० जायसवाल प्रकाशक लाहौर-१९३४
अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया	बी० ए० स्मिथ चतुर्थ संस्करण आक्सफोर्ड-१९६७
डेव्हलवमेन्ट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी	जे० एन बैनर्जी प्रकाशक, कलकत्ता-१९४१
दि एज आफ इम्पीरियल गुप्ताज	आर० डी० बैनर्जी प्रकाशक वाराणसी-१९३३
एलीमेन्ट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी	टी० गोपीनाथ राव इन्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी
मोहनजोदड़ो एण्ड द इण्ड्स सिविलीजेशन्स	सर जान मार्शल लण्डन-१९३१

हिस्टोरिकल एण्ड लिटरेरी इंस्क्रिप्शंस राजवली पाण्डेय
चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी

सिलेक्टेड इंस्क्रिप्शंस डा० डी० सी० सरकार
यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता १९६५

कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम भाग-३ फ्लीट
इण्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी

जरनल आफ न्यूमिसमेटिक सोसाइटी
आफ इण्डिया १९६१

इण्डियन कल्चर अप्रैल, १९३७

इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली

(ख) संकेतित प्राच्य ग्रन्थ

ऋग्वेद
अथर्ववेद
यजुर्वेद
महाभारत
भागवत
कूर्मपुराण
अग्निपुराण
वायुपुराण
वाजसनेयि
अंगुत्तर नि
अर्थशास्त्र

ख-स्कन्दगुप्त का इन्दोर पत्र—वर्ष १४६

अनुक्रमणिका